जैन कहानियां — भाग 3

कांटों के राही



डॉ॰ इन्द्र चन्द्र शास्त्री

जैन कहानियां — भाग 3

कांटों के राही

डॉ० इन्द्र चन्द्र शास्त्री

प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मंत्रालय
भारत सरकार

प्रथम संस्करण : ज्येष्ठ 1911 (जून 1989)
पुनर्मुद्रण : आषाढ़ 1912 (जुलाई 1990)

मूल्य : 18 रुपये

निदेशक, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, पटियाला हाउस, नई दिल्ली-110001 द्वारा प्रकाशित।

विक्रय केन्द्र ● प्रकाशन विभाग

- सुपर बाजार (दूसरी मंजिल), कनाट सर्कस, नई दिल्ली-110001
- कामर्स हाउस, करीमभाई रोड, बालार्ड पायर, बम्बई-400038
- 8, एस्प्लेनेड ईस्ट, कलकत्ता-700069
- एल.एल.ए. आडीटोरियम, 736 अन्नासलै, मद्रास-600002
- बिहार राज्य सहकारी बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ, पटना-800004
- निकट गवर्नमैंट प्रेस, प्रेस रोड, त्रिवेन्द्रम-695001
- 10 बी., स्टेशन रोड, लखनऊ-226019
- राज्य पुरातत्वीय संग्रहालय बिल्डिंग, पब्लिक गार्डन्स, हैदराबाद-500004

अशोका ऑफसेट वर्क्स, ओल्ड रोहतक रोड, दिल्ली-35 द्वारा मुद्रित।

प्रकाशकीय

सिन्धु घाटी की सभ्यता से आज तक के ऐतिहासिक विकास की यात्रा में अनेक ऐसे दौर आए हैं, जब समाज की रुकी और भटकी हुई गति को सही दिशा देने के लिए महान व्यक्तियों का आविर्भाव हुआ है। प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय समाज मूलतः धर्म पर आधारित था, इसलिए उन युगों के नेतृत्वकर्त्ताओं का स्वरूप धार्मिक व्यक्ति के रूप में उभरा। महावीर स्वामी, गौतम बुद्ध, गुरु नानक, कबीर आदि ऐसे ही सामाजिक क्रान्तिकारी थे।

पूर्व वैदिक काल की मान्यताओं के सभी जीवंत तंतु उत्तर वैदिक काल तक पहुंचते-पहुंचते अत्यंत रूढ़ हो गए थे। कर्मकांडों पर आधारित वाह्याडम्बरपूर्ण जीवन-दर्शन के कारण सामाजिक विकास की मूलधारा सूख-सी गई थी। ऐसे सामाजिक वातावरण के आकाश पर मुख्यतः जैन और बौद्ध धर्म के बादल मंडराए, जिन्होंने भारतीय जीवन को ही नहीं, बल्कि अखिल विश्व को रसासिक्त किया। महावीर स्वामी इसी जैन धर्म के 24वें तीर्थंकर थे।

जैन धर्म एक धार्मिक मत ही नहीं, बल्कि एक सम्पूर्ण सामाजिक जीवन-दर्शन था, जिसका तत्कालीन जीवन पर व्यापक एवं गहरा प्रभाव पड़ा। सामाजिकता का स्वरूप ग्रहण करने के कारण इसके आदर्श-पुरुषों के साथ अनेक किंवदंतियां जुड़ने लगीं। यह बता पाना कठिन है कि इन किंवदंतियों में सत्य का कितना अंश है। सत्य चाहे जो भी हो, इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि ये कहानियां पाठकों, विशेषकर बच्चों और युवा पीढ़ी के मन में गहरे संस्कारों को जन्म देती हैं, जिनसे उनमें सत्य के प्रति एक दृढ़ आस्था का भाव बनता है। इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु डा० इन्द्र चन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित, संग्रहीत जैन कहानियों का यह संकलन प्रकाशित किया जा रहा है। आशा है, इस पुस्तक का हमारे अन्य प्रकाशनों की भांति स्वागत होगा।

डा० श्याम सिंह शशि
निदेशक

आमुख

स्वर्गीय डा० इन्द्र चन्द्र शास्त्री के व्यक्तित्व और कृतित्व की स्मृति के सौरभ से सम्पन्न पुस्तक को लोकार्पित करते हुए इस आमुख के माध्यम से, मैं उन्हें श्रद्धांजलि देता हूं।

स्व० डा० इन्द्र चन्द्र शास्त्री भारतीय मनीषा के उद्भट विद्वान और सहृदय व्याख्याता थे। उन्होंने भारतीय धर्म, दर्शन, साहित्य एवं संस्कृति का सुविस्तृत अध्ययन किया था और उस व्यापक क्षितिज से उनको समन्वयात्मक जीवन दृष्टि, हमारी श्रेष्ठ परम्पराओं का मर्म उद्भासित करती रही।

अध्ययन, अध्यापन, अनुसंधान एवं मंथन, चिंतन और सृजन—डा० शास्त्री का जीवन-कर्म रहा। उन्होंने विपुल मात्रा में, विविध विधाओं में अपनी बौद्धिक उपलब्धियों, प्रस्थापनाओं और प्रतीतियों को अभिव्यक्ति दी। स्व० डा० शास्त्री जैन दर्शन के निष्ठावान अध्येता और पहली पंक्ति के विशेषज्ञ थे। उन्होंने जैन और श्रमण परम्पराओं को कभी किसी सीमित, संकुचित या साम्प्रदायिक दायरे में न देखकर भारतीय दर्शन और जीवन की अजस्र सनातन निरंतरता और अविभक्त एकात्मता के परिप्रेक्ष्य में ही परखा और प्रस्तुत किया। उनके बौद्धिक स्रोत बहुआयामी थे और उनका दृष्टिकोण उदार था।

डा० शास्त्री के प्रकाशित और अप्रकाशित लेखन में लगभग 70 पुस्तकें और 600 पत्रक या छोटी पुस्तकें सम्मिलित हैं और इस प्रकार उनकी समस्त रचनाएं अपने आप में एक सम्पूर्ण पुस्तकालय के समकक्ष हैं। मैं यह आशा करता हूं कि उनका सम्पूर्ण प्रतिनिधि लेखन एक क्रमबद्ध रचनावली के रूप में प्रकाशित किया जाएगा।

डा० शास्त्री की रचनाओं में एक समग्र दृष्टिकोण है, एक मूल्यपरक निष्ठा है और एक गहरी मानवीयता की संवेदना है। मूल्यों की आस्थावान, आचरणशील संस्कृति के निर्माण में इस प्रकार का सत्साहित्य, एक विशेष भूमिका निभाने में समर्थ है और इसलिए इस प्रकार का साहित्य विवेकशील और सुधी पाठकों की अभ्यर्थना एवं प्रशस्ति का पात्र है।

डा० इन्द्र चन्द्र शास्त्री की विशेषज्ञता के क्षेत्र से अंतरंग रूप से जुड़ी हुई, किन्तु विधा की दृष्टि से सर्वथा भिन्न, प्रस्तुत पुस्तक **कांटों के राही**, एक कथा-संग्रह है। यह संग्रह पहली बार 1949 में प्रकाशित हुआ और विशेष रूप से लोकप्रिय हुआ। भारत सरकार के प्रकाशन विभाग द्वारा आज से लगभग चार दशक से भी पहले लिखी गई इस पुस्तक का पुनःप्रकाशन सत्साहित्य के दीर्घजीवी स्थायित्व को रेखांकित करता है।

कथा की सृष्टि मनुष्य-परम्परा की सामाजिकता और सम्प्रेषण के साथ अंतर्ग्रंथित है। कथा का कहना-सुनना तो सृष्टि के शैशव काल से चला आ रहा है, किन्तु मनुष्य के जीवन में शैशव से लेकर वृद्धावस्था तक कथा का मूल तत्व समाया हुआ है। घटनाओं की जिज्ञासा,

वैविध्य का सम्मोहन, भावनाओं का उद्रेक, उद्दीपन और साधारणीकरण कथा को सर्वजनीन बनाता है और दूसरी विधाओं से अलग उसे सक्षम सम्प्रेषण के माध्यम के रूप में स्थापित करता है। उपनिषद, दर्शन, जातक, पुराण, काव्य, नाटक, उपदेश इत्यादि सब क्षेत्रों में कथा-तत्व सुशोभित है ।

मानवीय संस्कृति की यात्रा स्मृति का पाथेय लेकर चलती है, कथा उस अक्षय स्मृति का वाहन है। स्मृति, जो त्रिकालदर्शी है, कल्पना और सृजन जिसका स्वभाव है, धरती से आकाश और आकाश से परे जिसका विस्तार है, घटित और अघटित जिसकी धरती है, और मनुष्य का हृदय जिसकी दिशाएं हैं। स्व० डा० शास्त्री के इस कथा संग्रह में भारतीय मूल्यों के विकास और प्रस्फुटन के मनोरम जीवंत दृष्टांतों से सम्पन्न एक सनातन सांस्कृतिक स्मृति है । यह स्मृति हमारे देश की अमूल्य धरोहर है ।

प्रस्तुत संग्रह में प्रत्येक कहानी उस सनातन स्मृति को उजागर करती है जो उपदेश भी है, उदाहरण भी है; प्रश्न भी है, समाधान भी है; चिंतन और मंथन भी है, निष्पत्ति और नवनीत भी है; अनुभव भी है और आदर्श भी है । प्रत्येक कहानी के पात्र अलग-अलग हैं, घटनाएं भिन्न हैं, किन्तु सब की पहुंच एवं परिणति त्याग, क्षमा, मैत्री, करुणा एवं वैराग्य में होती है। इन कहानियों के नायक युयुत्सु या रक्त-पिपासु आक्रामक अश्वारोही नहीं हैं, न वे चमत्कारिक या अभिशप्त अलौकिक व्यक्ति हैं, बल्कि आत्म-बोध की राहों के विलक्षण एवं अति-मानव 'धीरोदात्त' पथिक हैं । उनका मंतव्य और गंतव्य अध्यात्म की चेतना के साथ अंतरंग रूप से जुड़ा हुआ है । उनका मार्ग कंटकाकीर्ण है और वे किसी दैवी हस्तक्षेप से नहीं, बल्कि आत्म-बोध के आत्मबल से अपने आत्मोकर्ष का मार्ग प्रशस्त करते हैं । इस दृष्टि से 'कांटों के राहो' भारतीय श्रमण परम्पराओं एवं संस्कारों का कथा संग्रह है जिसमें भगवान ऋषभदेव, सम्राट भरत, भगवान महावीर और महात्मा गांधी की साधना-पद्धतियां परिलक्षित होती हैं ।

प्रस्तुत कथाएं जैन परम्परा में पुरातन काल से प्रचलित रही हैं किन्तु डा० इन्द्र चन्द्र शास्त्री ने मूल कथाओं को नए सिरे से, नए शिल्प द्वारा नया स्वरूप दिया है। उन्होंने कौशल के साथ पारम्परिक कथा सूत्र की रक्षा करते हुए लीक की कथाओं को आधुनिक मुहावरे में एवं अधुनातन मनस्तत्व की सजावट में प्रस्तुत किया है। इतिहास का रोमांस, प्राचीन-पुरातन समाज और जीवन-मूल्यों का वातावरण तथा कथा वस्तु में एक सर्वसामान्य लौकिकता है । भोग और त्याग, हिंसा और अहिंसा, वैमनस्य और मैत्री, प्रतिशोध और क्षमा, वैभव और विसर्जन, लिप्सा और वैराग्य, तामसिक और सात्विक संघर्षों तथा अंतर्द्वन्द्वों की मार्मिक पृष्ठभूमि पर ये कहानियां लिखी गई हैं । ये कहानियां लौकिकता की मिट्टी में अंकुरित और पल्लवित होते हुए पौधों की तरह हैं, संसार के सरोवर में, जीवन के पंक में—मूल्यों के सरोरुह-पंकज की तरह, जो जीवन से जुड़े हुए हैं, किन्तु चैतन्य के ऊर्ध्वमुखी उन्मेष के साक्षी होते हैं ।

ये कहानियां सदियों से चली आ रही हैं । इसमें इतिहास की छवि है और इस छवि की अपनी प्रामाणिकता के साथ परिवर्तनशील परिप्रेक्ष्यों का प्रवाह है, जिसे जैन मुनियों, श्रावकों

एवं लोक साहित्य की वाचिक परम्पराओं ने सहेज कर रखा है। उन्हें फिर से संवार कर डा० शास्त्री ने भारतीयता के प्रांगण को संवर्धित किया है। भारतीय परम्पराओं और लोक जीवन में इस प्रकार का अखूट भंडार है। इस सम्पदा का सर्जनात्मक प्रयोग करने की क्षमता हमें विकसित करनी होगी, क्योंकि यह भंडार किसी राजकुमार के लिए लिखे गए पंचतंत्र से भी अधिक समूचे लोक को अपना सम्बोधन और सम्प्रेषण देता है।

डा० इन्द्र चन्द्र शास्त्री हमारे बीच नहीं रहे, किन्तु उनका कृतित्व एक विरासत के रूप में बराबर बना रहेगा। उनका यह कथा-संग्रह उसी विरासत का एक मोती है। मैं हृदय से इस पुस्तक के प्रकाशन का स्वागत करते हुए स्व० डा० इन्द्र चन्द्र शास्त्री के सांस्कृतिक-साहित्यिक कृतित्व का पुनः अभिनंदन करता हूं।

डा० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी

कमलालय,
बी-8, साऊथ एक्सटेंशन,
नई दिल्ली-110049

विषय-सूची

रूप

आषाढ़भूति की अवस्था अभी छोटी ही थी। शरीर कोमल था पर बुद्धि में तीव्रता थी, स्वभाव में नटखटपन। मुनिव्रत ले लेने पर भी कभी-कभी बालसुलभ चंचलता उभर ही आती और शरारत करने को जी मचल उठता। यौवन के पदार्पण के साथ हृदय में वासना की लहर भी उठने लगी। यद्यपि ऐसा कोई कार्य नहीं किया जिससे वह संयम-भ्रष्ट कहे जाते, किन्तु कभी-कभी मन को वश में रखना कठिन हो जाता। वह उस दशा में नहीं पहुंचे थे, जब विकार के शिकार उपस्थित होने पर भी मन विकृत नहीं होता। संयम में उत्साह था किन्तु कभी-कभी उदासीनता भी आ जाती।

अपने गुरु आचार्य धर्मरुचि के साथ विचरते हुए वह राजगृह आए। राजगृह मगध की राजधानी थी। विविध प्रकार के कलाकार, बड़े-बड़े व्यापारी तथा विद्वान उसकी शोभा को बढ़ा रहे थे। वहीं नाट्याचार्य विश्वकर्मा अपनी मण्डली के साथ रहते थे। अभिनय कला के लिए यह मण्डली दूर-दूर तक प्रसिद्ध थी। विश्वकर्मा अभिनेता तथा अभिनेत्रियों के चुनाव तथा शिक्षण में बड़े पटु थे। उनको दो कन्याएं थीं—रम्भा और शची। दोनों सुन्दरी थीं और नृत्यकला में प्रवीण थीं।

आषाढ़भूति भिक्षा के लिए घूमते हुए आचार्य विश्वकर्मा के घर पहुंचे। भिक्षा में एक लड्डू मिला। बाहर आकर आषाढ़भूति ने सोचा—'एक लड्डू से क्या होगा ? यह तो आचार्य के हिस्से में आएगा। उनके बाद उपाध्याय का नम्बर है। फिर गणावच्छेदक का। तब कहीं मेरी बारी आएगी।' उसने काने का रूप बनाया। एक लड्डू और मिल गया। फिर कुबड़े का और फिर कोढ़ी का। दो लड्डू और मिल गए।

विश्वकर्मा ऊपर बैठा हुआ आषाढ़भूति के रूप-परिवर्तन को देख रहा था, उसने सोचा—'यह साधु रूप बदलने में बड़ा कुशल है। यदि हमारी नाट्य मण्डली में सम्मिलित हो जाए तो धन बरसने लगेगा।'

वह नीचे उतरा। साधु को बड़े आदर के साथ फिर घर में ले गया और लड्डुओं से पात्र भर दिया। दोनों कन्याएं समीप ही खड़ी थीं। साधु की दृष्टि उन पर पड़ी और उनकी साधु पर।

आषाढ़भूति विश्वकर्मा के घर प्रायः आने लगे। कन्याओं से वार्तालाप भी होने लगा। विश्वकर्मा ने कोई आपत्ति न की। उनकी तो एकमात्र इच्छा थी, आषाढ़भूति किसी प्रकार नाट्य मण्डली में सम्मिलित हो जाएं।

आषाढ़भूति खिंचे जा रहे थे। आत्मनियंत्रण शिथिल पड़ रहा था। बार-बार मन को समझाते। रात्रि को प्रतिज्ञा करके सोते कि अब कभी उधर नहीं जाऊंगा। किन्तु दूसरे दिन भिक्षा का समय होते ही वह शिथिल पड़ जाती। पैर अपने आप उधर चल पड़ते। सौंदर्य का आकर्षण विवेक, बुद्धि को ग्रस लेना चाहता था। कई बार गुरु तथा अपने व्रत का ध्यान

आया। पतन के भीषण परिणाम भी दिखाई दिए। वह रुकना चाहते थे किन्तु उसमें समर्थ न हो रहे थे। उनकी दशा उस व्यक्ति के समान थी, जो पहाड़ पर से गिर रहा है, सामने भीषण गर्त है, आंखें खुली हुई हैं। चाहता है, रुक जाऊं। किन्तु रुक नहीं सकता। वह विष के प्याले को पी रहे थे चाहते थे, न पिऊं। किन्तु उसे ओठों से अलग करने की शक्ति न थी। मनुष्य जब तक पैर जमाए खड़ा रहता है, अपने आप को नहीं फिसलने देता, नहीं फिसलता। किन्तु जैसे ही एक पैर फिसला, फिर सम्भलना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाता है।

आषाढ़भूति फिसल चुके थे, नहीं सम्भल सके। एक दिन कन्याओं ने विवाह का प्रस्ताव रखा। वह अस्वीकार न कर सके। धर्म और व्रत का ध्यान आया, गुरु के उपदेश याद आए किन्तु व्यर्थ सिद्ध हुए। यह बात नहीं थी कि वह धर्म को व्यर्थ मानते हों। उसके प्रति रुचि अब भी वर्तमान थी। किन्तु अपने को विवश अनुभव कर रहे थे और बलात् विपरीत दिशा में खिंचे जा रहे थे।

उपाश्रय में जाकर उन्होंने रजोहरण, वस्त्र, पात्र आदि साधु के चिन्ह गुरु के चरणों में रख दिए और विदा होने की अनुमति मांगी। गुरु ने बहुत समझाया। वह चुपचाप सुनते रहे, अन्त में कहा—"भगवन ! मुझे क्षमा कीजिए। मैं थका हुआ पथिक हूं। छाया देखकर पैर भारी हो गए हैं। अब बिना विश्राम किए आगे न बढ़ सकूंगा। मैं प्रयत्न करूंगा कि यह विश्राम मेरी प्रगति को सदा के लिए न रोक दे। यह भी सम्भव है कि यह उसे द्विगुणित कर दे। नवीन उत्साह और नया बल प्राप्त करके मैं वर्षों के मार्ग को दिनों में पूरा कर लूंगा।"

गुरु से विदा लेकर आषाढ़भूति विश्वकर्मा के घर चले आए। दोनों कन्याओं से विवाह कर लिया। विलासिता में दिन कटने लगे किन्तु वासना उनके विवेक को पूरी तरह न ढक सकी। कभी-कभी पुराने संस्कार जाग उठते और वर्तमान जीवन फीका-सा मालूम पड़ने लगता। मर्यादा का बांध सर्वथा न टूटा था। पत्नियों का आग्रह होने पर भी कभी मदिरापान नहीं किया। कभी मांस सेवन नहीं किया। जब गुरु का उपदेश याद आता तो आत्मग्लानि-सी होने लगती।

मानव-स्वभाव एक पहेली है। उसके लिए अप्राप्य वस्तु में जितना आकर्षण है उतना प्राप्य वस्तु में नहीं। अप्राप्ति की अवस्था में मनुष्य जिसके लिए सर्वस्व अर्पित करने को उद्यत रहता है, प्राप्त होने पर वही साधारण-सी बन जाती है। सारा आकर्षण, सारा सौंदर्य, सारा माधुर्य पता नहीं कहां विलुप्त हो जाता है? तो क्या ये सब बातें छलना हैं? मरुमरीचिका हैं। किन्तु प्रगति का बीज भी तो इन्हीं में सन्निहित है। यदि ये न हों तो मनुष्य जहां खड़ा है, वहीं रह जाए। यदि प्यासे हरिण को मरीचिका में जल का भान न हो तो वह क्यों दौड़े? छलना तो वह उसके लिए है जो जल पीकर प्यास बुझाना चाहता है। जिसने प्यास से व्याकुल होकर दौड़ते रहना ही अपना लक्ष्य बना लिया है उसके लिए वह यथार्थ है, उसके लिए तो जलाशय ही छलना है।

आषाढ़भूति जिस समय मुनि थे, गार्हस्थ्य में आकर्षण प्रतीत होता था। अब विवाह कर लिया तो मुनिव्रत याद आता था। पता नहीं, मनुष्य ने वर्तमान अवस्था में सन्तुष्ट रहना क्यों नहीं सीखा? सतत अतृप्ति उसके स्वभाव में अन्तर्हित है। सन्तोष का उपदेश उस पर कृत्रिम

आवरण भले डाल दे, किन्तु वह स्थायी स्वभाव नहीं बनता। विश्वकर्मा मानव-स्वभाव के अच्छे पारखी थे। आषाढ़भूति को यह दुविधा उनसे छिपी न रही। कन्याओं को अच्छी तरह समझा दिया कि इनके साथ बर्ताव करने में बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। कोई भी ऐसा प्रसंग



नहीं आने देना चाहिए, जिससे इनकी विरक्ति बढ़ जाए। इनके सामने न तो कोई वीभत्स दृश्य आना चाहिए, जिससे इन्हें ग्लानि उत्पन्न हो और न कोई ऐसी उलझन उपस्थित होनी चाहिए, जिससे ये घबरा जाएं। कन्याएं पिता के आदेश का पूर्णतया पालन करने लगीं और प्रतिदिन इस प्रकार सचेष्ट रहने लगीं, जिससे आषाढ़भूति उत्तरोत्तर अधिक आकृष्ट होता जाए।

आचार्य विश्वकर्मा की नाट्यमण्डली चमक उठी। आषाढ़भूति का अभिनय देखने के लिए जनता टूट पड़ती थी। लोग दूर-दूर से चलकर आते। भावों की अभिव्यक्ति, अंगों का परि-चालन, नेपथ्य, उक्ति, प्रत्युक्ति आदि सभी बातों में उत्कृष्टता थी। दोनों कन्याएं साथ रहतीं, आषाढ़भूति नायक होते तो शची नायिका और रम्भा प्रतिनायिका। उनके कारण अभिनय और भी आकर्षक बन जाता।

एक दिन राजगृह के तत्कालीन राजा सिंहरथ ने अभिनय देखने की इच्छा प्रकट की। सिंहरथ अधेड़ अवस्था के क्षत्रिय नरेश थे, शृंगार की अपेक्षा वीर और शान्त रस को अधिक पसन्द करते थे। उन्होंने आचार्य विश्वकर्मा को एक प्राचीन कहानी सुनाई, जो शान्त रस प्रधान थी और स्त्री पात्रों से शून्य थी। उसी कथावस्तु के आधार पर नाटक रचकर अभिनय करना था।

विश्वकर्मा और आषाढ़भूति ने परिश्रम से नाटक तैयार किया। पात्रों को अभ्यास कराया और निश्चित तिथि पर संध्या समय अभिनय के लिए राजदरबार में पहुंच गए।

शची और रम्भा ने उसे छुट्टी का दिन समझा। सोचा--'आज आषाढ़भूति अकेले गए हैं। राज दरबार में नाटक है, रात समाप्त होने से पहले क्या लौटेंगे? आज अपने मन की इच्छा पूर्ण कर ली जाए।' दोनों ने जी भरकर मदिरापान किया, मांस खाया। बहुत दिनों से मदिरापान की रुकी हुई लालसा को तृप्त किया। नशे में मतवाली होकर दोनों ऊपर वाले कमरे में सो रहीं। न वस्त्रों की सुधबुध रही और न किसी से बात की।

उधर अचानक राजसभा में एक दूत आया और उसने शत्रु द्वारा किए आक्रमण की सूचना दी। राजा तथा सभी अमात्य चिन्ता में पड़ गए। नाटक का कार्यक्रम स्थगित कर दिया गया। सभी अभिनेता अपने-अपने घर चले गए। आषाढ़भूति सीधा ऊपर वाले कमरे में पहुंचा। दोनों बेसुध सो रही थीं। शरीर से वस्त्र हटे हुए थे। मुंह से झाग निकल रही थी। सारे कमरे में दुर्गन्ध फैल रही थी। वह नग्न रूप आषाढ़भूति को बहुत ही बुरा लगा। मन में आया, 'क्या अस्पष्टता का नाम ही सौंदर्य है? वही रूप जब वस्त्र और आभूषणों से आवृत होकर कुछ स्पष्ट और कुछ अस्पष्ट मेरे सामने आता था, कितना आकर्षक प्रतीत होता था! कितना मोहक था! वही अनावृत रूप में कैसा वीभत्स प्रतीत होता है। सौंदर्य का असली स्थान कहां है? ऐसा कौन-सा तत्व है जिससे सौंदर्य का स्रोत उद्भूत होता है और जिसके समीप पहुंचने पर अधिकाधिक तृप्ति और आनन्द की अनुभूति होती है। जो चकाचौंध के कारण दूर से ही सुन्दर प्रतीत होता है, वह तो मृग-मरीचिका है, गन्धर्व नगर है। वास्तविक जलाशय तो ज्यों-ज्यों समीप जाओ अधिकाधिक शक्ति प्रदान करता है। अन्दर प्रवेश करने पर तो और भी अधिक। जो समीप आने पर विराग और निराशा के रूप में परिणत हो जाए वह मिथ्या है, भ्रम है, यथार्थ नहीं है। मैंने इस अयथार्थ के लिए कितने नाच नाचे। अपने को कितना गिराया। मैं इसके पीछे पागल हो गया।' हृदय आत्मग्लानि से भर गया।

आषाढ़भूति को नींद नहीं आई। प्रात: होते ही उसने जाने का विचार प्रकट किया।

विश्वकर्मा सदा सशंक रहता था। आषाढ़भूति को उद्विग्न देखकर उसने कन्याओं से सारा हाल पूछा। प्रमाद के लिए उसने उनकी भर्त्सना की तथा उसे किसी भी प्रकार मना लाने के लिए कहा। साथ में यह भी कह दिया, यदि वह किसी प्रकार न माने तो उससे अपनी आजीविका का प्रबन्ध करने के लिए कहना।

कन्याओं ने सब तरह से प्रयत्न किया। हाव-भाव दिखाए, रूठीं, गिड़गिड़ाईं, उपभुक्त विषय-भोगों की स्मृति दिलाई, अपनी भूल पर पश्चाताप किया, क्षमा मांगी-किन्तु आषाढ़भूति निश्चल रहे। अन्त में कन्याओं ने आजीविका की बात छेड़ी। बोलीं—"हम दोनों आपकी विवाहिता स्त्रियां हैं। आपके चले जाने पर हमारा भरण-पोषण कौन करेगा? हमारी आजीविका के लिए भी तो कोई प्रबन्ध होना चाहिए?"

आषाढ़भूति अटक गए। उत्तरदायित्व को पूरा किए बिना आत्म-साधना अधूरी है। मन में अपने संकल्प को दृढ़ रखते हुए आषाढ़भूति धन-संचय का उपाय सोचने लगे।

एक नाटक की रचना की। नाम रखा—'विदा'। प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के पुत्र चक्रवर्ती भरत राजसिंहासन पर बैठे। विजय यात्रा की। छह खण्डों पर राज्य स्थापित किया। चौदह रत्न तथा नौ निधियों के स्वामी बने। शीशमहल बनाया। राजसी वेश में सजधज कर उसमें प्रवेश किया। एक अंगूठी नीचे गिर पड़ी। अंगुली की चमक जाती रही। वह निस्तेज और मलिन-सी दीखने लगी। यह क्या ? क्या सारी शोभा अंगूठी की थी ? इस औपाधिक और अस्थायी सौन्दर्य के लिए प्रफुल्लित होना अज्ञानता है। विचार के साथ-साथ वैराग्य भावना बढ़ती गई। दूसरे आभूषण उतार कर देखा। जिस अंग का आभूषण उतारा जाता, वही फीका पड़ जाता। मुकुट उतार कर देखा, सिर की वह शोभा न रही। हीरे के हार उतारे, छाती निस्तेज हो गई। वैराग्य भावना उत्कट होती गई। अस्थायी वस्तुओं का मोह दूर हो गया। वहीं आत्म-साक्षात्कार हो गया। वह घर-बार छोड़ कर चल पड़े, साथ में पांच सौ राजकुमार दीक्षित हो गए।

इसी कथावस्तु पर आषाढ़भूति ने सुन्दर नाटक रचा। योग्य पात्रों का चुनाव कर के उचित शिक्षा दी। रंगमंच तैयार किया गया। अभिनय की तिथि निश्चित हो गई।

अभिनेता के रूप में आषाढ़भूति की ख्याति दूर-दूर तक फैली हुई थी। यह उसका अन्तिम नाटक था। लम्बे समय से तैयारियां हो रही थीं। देखने के लिए बड़े-बड़े राजा तथा सेठ आए। सभास्थान खचाखच भर गया।

आषाढ़भूति स्वयं नायक था। भरत का अभिनय वही कर रहा था। लोग देख-देखकर चकित हो रहे थे। पारितोषिक के रूप में आभूषण तथा मोहरों की वर्षा हो रही थी।

अन्तिम दृश्य आया। शीशमहल के परदे खिंच गए। चक्रवर्ती भरत के रूप में आषाढ़भूति का प्रवेश हुआ। चारों ओर विशाल दर्पण थे। दिव्य वेशभूषा के कारण सारा मंच जगमगा उठा। राजकीय ऐश्वर्य और प्रभुत्व के अभिमान से भरे हुए भरत नपे-तुले कदमों के साथ घूमने लगे। अपना दिव्यप्रतिबिम्ब देखकर वह बार-बार प्रफुल्लित हो उठते।

इतने में अंगूठी गिरी। अंगुली निस्तेज हो गई।

"यह क्या ! क्या सारा सौन्दर्य इसी का था ?" भरत ने आश्चर्य और व्याकुलता के साथ कहा।

क्रमशः दूसरे आभूषण उतारे। अंग फीके पड़ते गए। सारा शरीर निष्प्रभ होता गया। मुकुट भी उतार दिया। ललाट का तेज समाप्त हो गया।

भरत ने कहा—"यह क्या ! मैं जिस चकाचौंध पर प्रसन्न हो रहा था, वह क्षण-भर में विलुप्त हो गई। क्या मैं इसी पर मुग्ध था ? मुकुट उतारते ही सारा तेज चला गया। क्या सारा तेज इसी मुकुट का है ? मेरा अपना कुछ नहीं है ? यह वेशभूषा तो अस्थायी है, कृत्रिम है। यह मुझे सदा सुन्दर नहीं रख सकती। भौतिक वस्तुएं कितनी परिवर्तनशील हैं। पल भर में कुछ का कुछ हो गया। सारा संसार अनित्य है। हाथी, घोड़े तथा रथ सभी अनित्य हैं। अन्त समय में वह मुझे न बचा सकेंगे। मेरा साम्राज्य, मेरे महल, प्रासाद,

दुर्ग सभी नश्वर है। मेरा यह शरीर भी नश्वर है। एक आत्मा नित्य है। क्यों न मैं आत्मा को प्राप्त करूं। यदि शाश्वत सुख चाहिए तो आत्मा को प्राप्त करना होगा। भौतिक वस्तुओं से नाता तोड़ना होगा। उन्हें विदा देनी होगी।"

उसी समय उसे बोध प्राप्त हो गया। उसी वेश में रंगमंच से बाहर निकलने लगा। पीछे-पीछे पांच सौ राजकुमार थे।

मगध-सम्राट ने कहा—"भगवन, अब तो नाटक समाप्त हो गया। आप कहां आ रहे हैं ?"

"जहां भरत चक्रवर्ती गए हैं, हमारा नाटक वहीं पहुंचने पर समाप्त होगा।"

आषाढ़भूति वापस न लौटे।

सामायिक का मूल्य

एक श्रावक था, पूनिया। वह सूत कात कर अपना निर्वाह करता था। यह बात नहीं कि उसके पिता निर्धन थे, या उन्होंने उसे कुछ नहीं दिया था। उसके पिता नगर के इभ्य थे। इने-गिने प्रमुख धनवानों में उनका पहला नहीं तो दूसरा स्थान अवश्य रहा होगा। धन-धान्य, हाथी, घोड़े, दास-दासी, महल-प्रासाद आदि किसी वस्तु की कमी न थी। देश तथा विदेश में व्यापार फैला हुआ था। जलमार्गों पर जहाज चलते थे और स्थल-मार्गों पर सार्थ।

किन्तु पूनिया संचय को पाप समझता था। बहती हुई हवा सभी के लिए है। इसमें सभी सांस ले सकते हैं। यदि कोई उसे रोक कर बैठ जाए और दूसरों को सांस न लेने दे तो उसे क्या कहा जाएगा? वह पापी नहीं तो और क्या है? नदी का बहता हुआ जल सभी की प्यास बुझाता है। उस पर घाट बांधकर यदि कोई सार्वजनिक सुख की वृद्धि करना चाहता है तो करे, किन्तु यदि घाट बांध कर वह उस पर स्वामित्व स्थापित करना चाहता है और दूसरों को पानी पीने से रोकता है तो यह पाप है। संसार में धन-धान्य आदि सभी वस्तुएं सार्वजनिक सम्पत्ति हैं। एक चालाक व्यक्ति थोड़ा-सा हेर-फेर करके उन पर अधिकार जमा लेना चाहता है। यह भी कोई न्याय है? वृक्षों की छाया सभी के लिए है। जिसको जितनी देर आवश्यकता हो बैठ ले। एक पथिक विश्राम कर चला जाता है तो दूसरा उसकी जगह आ बैठता है। छाया को गठरी में बांध कर अपने साथ नहीं ले जाता, न ही उसे ताले में बन्द कर जाता है। वन में घास उगती है, फल लगते हैं। पशु भी आते हैं, पक्षी भी आते हैं। अपना-अपना पेट भर कर चले जाते हैं, उड़ जाते हैं। गट्ठर बांध कर कोई नहीं ले जाता। अधिकार जमाकर कोई नहीं बैठता।

मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो सार्वजनिक उपयोग की वस्तुओं पर अधिकार जमाना चाहता है। अपनी इस वंचकवृत्ति के पोषण तथा गोपन के लिए उसने व्यापार, राजनीति, अर्थशास्त्र आदि लम्बे-चौड़े गोरखधन्धे रच रखे हैं।

चोर दूसरे की निद्रा से लाभ उठा कर उसका धन ले लेता है। डाकू उसकी शारीरिक दुर्बलता से लाभ उठाता है। व्यापारी उसकी बौद्धिक तथा आत्मिक दुर्बलता से। प्यास से मरते हुए आदमी से एक गिलास पानी के बदले हम उसकी सारी सम्पत्ति मांग सकते हैं। लाचार होकर उसे देनी ही पड़ेगी। फिर भी हम न चोर कहे जाएंगे, न डाकू। इसके विपरीत हम यह कहते हुए गर्व का अनुभव करेंगे कि हमने कष्ट के समय उसकी सहायता की और उसके प्राण बचा लिए। दूसरे की निर्बलता या विवशता से लाभ उठाने की भावना प्रायः सभी में पाई जाती है। फिर भी समाज ने कुछ को पापी कह दिया और कुछ को भाग्यशाली। पूनिया की दृष्टि में सभी एक थे। दूसरे का अधिकार बिना छीने या दूसरे की लाचारी से लाभ उठाए बिना, कोई संचय नहीं कर सकता।

पूनिया नें सारी सम्पत्ति को त्याग दिया। एक छोटी-सी झोंपड़ी बना ली और उसी में रहने लगा। सूत कात कर जो आय होती, उसी पर निर्वाह करता। प्रतिदिन की आय उसी दिन खर्च लेता, दूसरे दिन के लिए कुछ भी न बचाता। बचाना संचय बुद्धि को उत्पन्न करता है और संचय बुद्धि पाप है। उसका यह भी विश्वास था कि जिस दिन कुछ बचा कर रखा जाएगा, उस दिन कोई न कोई अवश्य भूखा रहेगा। बचा हुआ अंश सार्वजनिक स्वत्व का अपहरण है। इसलिए वह उतना ही कातता, जिससे उस दिन का गुजारा होता।

पूनिया उदरपूर्ति के लिए पूनियां कातता और शेष समय आध्यात्मिक विकास में बिताता। वह इस बात को कभी न भूलता कि मानव-जीवन का वास्तविक ध्येय आत्मा की प्राप्ति है।

एक बार मगध सम्राट महाराज श्रेणिक भगवान महावीर की सेवा में बैठे थे। श्रेणिक ने पूछा—"भगवान ! मैं मर कर कहां जाऊंगा ?"



"नरक में"—भगवान ने उत्तर दिया।

श्रेणिक सुनकर चकित रह गए। वह अपने को बड़े न्यायी, प्रजावत्सल तथा धार्मिक राजा समझते थे। पण्डित लोग उनको महान धार्मिक व्यक्ति मानते थे। यह कहते भी न हिचकते थे कि उनके हाथ से मरने वाले की भी सद्गति होती है। भगवान महावीर के मुख से अपना भविष्य सुनकर वह खेदपूर्ण आश्चर्य में पड़ गए।

महावीर के वाक्यों पर श्रेणिक को पूरा विश्वास था। वह मानते थे कि भगवान महावीर कभी असत्य नहीं कहते। भगवान ने बताया —"जो राजा अपने को प्रजा का स्वामी मानता है, वह धर्म के रहस्य को नहीं जानता। राज्य की सारी सम्पत्ति को प्रजा की धरोहर समझो। उसे प्रजा के हित में लगाओ। अपने लिए उसमें से एक पैसा भी खर्चना पाप है। तुम सच्चे मन से यदि जनता की सेवा करो तो तुम्हारे जीवन का उद्धार हो सकता है। किन्तु क्रूर मनोभावों के कारण तुम नरक का आयुष्य बांध चुके हो। उसका छूटना कठिन है।"

भगवान ने राजा को वह घटना याद दिलाई, जब वह शिकार खेलने गए थे। उसने एक हरिणी पर बाण छोड़ा। वह गर्भवती थी। तड़पती हुई एक ओर जा पड़ी। बच्चा बाहर गिर पड़ा। राजा अपने निशाने पर फूल उठे।

भगवान ने कहा—"राजन! तुम ने एक तो निरपराध प्राणी की हिंसा की। उस पर इतने मतवाले हो उठे। इसी कारण तुमने नरकायुष्य बांधा।"

राजा अपना भविष्य सुन कर सहम गए। उन्होंने दीन स्वर में पूछा "भगवन! क्या कोई ऐसा उपाय है जिससे मेरा नरकायुष्य टूट सके ?"

"बांधा हुआ आयुष्य टूट नहीं सकता, राजन! उसे भोगना ही पड़ता है।" भगवान ने दयार्द्र होकर कहा—"यदि तुम चाहो तो अपना भविष्य सुधार सकते हो, किन्तु किए का फल तो भोगना ही होगा। मैं तुम्हारे सामने तीन बातें रखता हूं। यदि तुम इनमें से एक भी सम्भव कर सको तो बंधे हुए आयुष्य का टूटना भी सम्भव हो सकता है :

1. यदि तुम्हारी कपिला नाम की दासी शुद्ध मन से किसी साधु को दान देवे तो तुम्हारा नरकायुष्य टूट सकता है।
2. यदि कालसौकरिक कसाई, जो प्रतिदिन पांच सौ भैंसे मारता है, हिंसा बन्द कर दे तो तुम्हारा नरकायुष्य टूट सकता है।
3. यदि पूनिया श्रावक तुम्हें अपनी एक सामायिक दे दे तो तुम्हारा नरकायुष्य टूट सकता है।"

कपिला साधुओं से द्वेष करती थी। श्रेणिक ने उसे समझाने का बहुत प्रयत्न किया। प्रलोभन भी दिए, किन्तु वह तैयार न हुई।

कालसौकरिक कसाई से कहा गया। उसने उत्तर दिया—"महाराज! मैं अपने वंश परम्परा के धंधे को कैसे छोड़ दूं ? कुलाचार का पालन करना मेरा धर्म है। नरनाथ! जिस प्रकार आपको अपना धर्म प्यारा है, मुझे भी अपना धर्म प्यारा है।"

राजा ने उसे कैद कर लिया, किन्तु वह न माना। उसने अपने पसीने के मैल की बत्तियां बनाईं। उनमें भैंसों का आरोपण किया और संख्या पूरी कर ली। उसने मानसी हिंसा नहीं छोड़ी। राजा वहां भी निराश हुए।

वह पूनिया के पास पहुंचे। उस समय वह सामायिक में बैठा हुआ था। राजा चुपचाप जाकर बैठ गए। सामायिक पूरी होने पर पूनिया ने राजा को बैठने के लिए चटाई दी और आने का कारण पूछा। राजा ने सारी बात कह सुनाई और एक सामायिक खरीदने की इच्छा प्रकट की।

"महाराज ! मुझे खेद है, यह कार्य नहीं हो सकेगा।" पूनिया ने गम्भीरता के साथ उत्तर दिया।

राजा ने सोचा—'बनिया है। कुछ अधिक मूल्य चाहता है।' एक लाख मोहरों से बढ़ते-बढ़ते अपना सारा साम्राज्य मूल्य के रूप में देना चाहा, किन्तु सौदा न पटा।

श्रेणिक फिर भगवान महावीर के पास पहुंचे। भगवान ने सामायिक का स्वरूप बताते हुए कहा --"राजन ! तुम भोले हो। तुम समझते हो, अपने राज्य तथा सम्पत्ति द्वारा तुम सब कुछ कर सकते हो, सब कुछ खरीद सकते हो। किन्तु तुम भ्रम में हो। भौतिक सम्पत्ति द्वारा भौतिक वस्तुएं ही खरीदी जा सकती हैं। उन्हीं का परस्पर लेन-देन और मूल्यांकन हो सकता है। आध्यात्मिक जगत में भौतिक सम्पत्ति का कोई मूल्य नहीं है। आत्मचिन्तन में लगाए गए एक क्षण के सामने तुम्हारा सारा साम्राज्य तुच्छ है। तुम अपनी सम्पत्ति द्वारा कपिला के हृदय को नहीं बदल सके। अपनी सारी शक्ति लगाकर भी कालसौकरिक को नहीं रोक सके। वे तो कुमार्ग में प्रवृत्त थे। फिर भी तुम्हारी सत्ता उन पर प्रभाव न डाल सकी। पूनिया तो एक समझदार श्रावक है। आध्यात्मिक सम्पत्ति का स्वामी है। तुम्हारे तुच्छ साम्राज्य के लिए वह अपनी उस पूंजी को क्यों बेचने लगा ?

"राजन ! सामायिक लेन-देन की वस्तु नहीं है। आत्मा के विशुद्ध परिणामों का नाम ही सामायिक है। उसके लिए साधना की आवश्यकता है। सामायिक के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने के लिए ही पूनिया ने अपनी करोड़ों की सम्पत्ति त्याग दी। उसने ऐसी कोई वस्तु अपने पास नहीं रखी, जो आत्मचिन्तन में बाधक हो। उसे जो आत्मसाम्राज्य प्राप्त है, उसके सामने तुम्हारा साम्राज्य क्या है ? यदि तुम वास्तव में सामायिक प्राप्त करना चाहते हो तो राज-सत्ता के मिथ्या मोह को छोड़ कर दीन बन जाओ। प्रभुता की इस चकाचौंध में आत्मदर्शन नहीं हो सकते। संसार में क्षुद्र-से-क्षुद्र प्राणी को अपना मित्र मानो। सब के साथ समानता का व्यवहार करो। तुम सुख चाहते हो तो दूसरों को सुखी बनाओ। राजन सब प्राणियों के साथ समता रखना सामायिक है।

"सुख प्राप्त कर फूलो मत और दुख आने पर घबराओ मत। इष्ट और अनिष्ट, अनुकूल और प्रतिकूल, सभी परिस्थितियों में समान रहने का नाम सामायिक है।

"राजन ! आत्म दर्शन का नाम सामायिक है। किन्तु वह तभी हो सकता है, जब अपने मन तथा इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटाकर अन्तर्मुखी बनाओगे।

"राजन ! साधना करो। अवश्य सफलता प्राप्त होगी।"

दम्पति

"जीवन के महान लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए विवाह पाथेय है। इसका ध्येय केवल भौतिक आनन्द में नहीं है। विवाह के बाद भी स्त्री और पुरुष पूर्ण ब्रह्मचारी रह सकते हैं।" विजय कुमार ने दृढ़ता से कहा।

कौशाम्बी नगरी में धनसार सेठ रहते थे। उनके एक पुत्र था, नाम था विजयकुमार। विजय शरीर से सुन्दर, बुद्धि से तीक्ष्ण और स्वभाव से नम्र था। नवयौवन सम्पन्न सभी प्रकार से अतुल ऐश्वर्य का स्वामी होने पर भी वह उनमें आसक्त न था। उसका मन जीवन की किसी गम्भीर समस्या के विचार में लगा रहता था।

एक दिन विजय पिता के साथ मुनिदर्शन करने गया। व्याख्यान सुना। मुनि महाराज ब्रह्मचर्य की महिमा का उपदेश दे रहे थे। उन्होंने बताया—"जो व्यक्ति दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करता है, देव, दानव, गन्धर्व और राक्षस सभी उसे नमस्कार करते हैं।"

विजय उत्साही युवक था। कठिनाइयों का स्वागत करने में उसे आनन्द आता था। इसी का नाम तो यौवन है। इसी का नाम उत्साह है। दूसरे लोग जिसे असम्भव समझ कर अलग हट जाते हैं, युवक का हृदय उसे सम्भव करने के लिए मचल उठता है। लोग जिसे दुष्कर समझकर भय खाते हैं, वहीं उसे कोई निमंत्रण देता हुआ प्रतीत होता है। जहां दूसरों के लिए खतरा है, उसके लिए आकर्षण है। दूसरों के लिए जो असाध्य है वह उसी को सुसाध्य करके देखना चाहता है।

मुनि महाराज ने ब्रह्मचर्य को जितना कठिन बताया, विजय का हृदय उतना ही उस ओर झुकता गया। उसमें उसे आनन्द आने लगा।

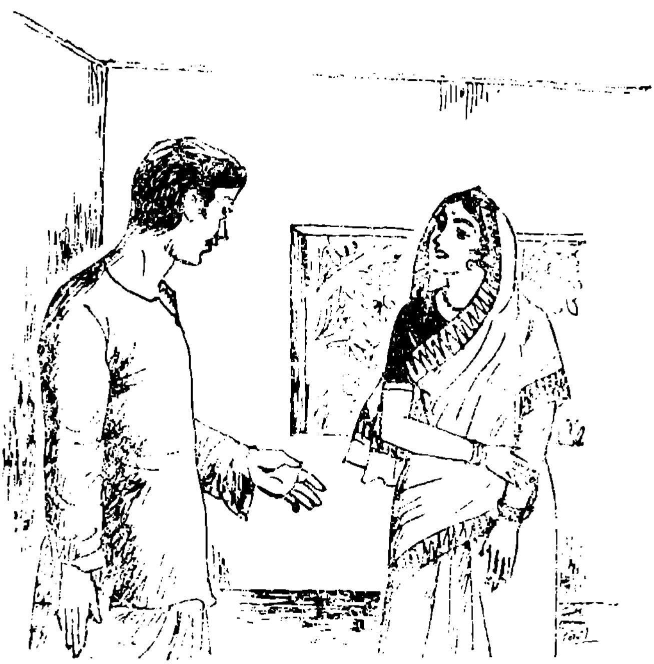
व्याख्यान के अन्त में वह मुनि महाराज के पास गया और अपनी इच्छा प्रकट की। उसने कहा—"महाराज! मैं चाहता हूं, पूर्ण-ब्रह्मचर्य का पालन करूं। किन्तु महाव्रत के शिखर पर पहुंचने के लिए क्रमशः ही बढ़ना उचित है। इसलिए मैं आपके सामने प्रत्येक मास के कृष्णपक्ष में ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा करता हूं। आप मुझे यह प्रतिज्ञा करा दीजिए।"

मुनि महाराज ने विजयकुमार को ब्रह्मचर्य का स्वरूप अच्छी तरह समझाया। उन्होंने कहा—"मन को विषय वासनाओं से हटाकर आत्मचिन्तन में लगाना। जो व्यक्ति अपने मन को वश में रख सकता है, उसके लिए यह कार्य सरल है। जो नहीं रख सकता उसके लिए कठिन है। तुम अभी युवक हो, संसार के सभी प्रलोभन तुम्हारे सामने हैं, पग-पग पर पतन की सम्भावना है। फिर भी मुझे आशा है, तुम इस कठोर व्रत में अग्रसर होते जाओगे। विचार और विवेकपूर्वक चलने से कठिन कार्य भी सरल हो जाते हैं। मन में दृढ़ता और उत्साह रखो, अवश्य सफलता मिलेगी।"

उसी नगरी में लीलाधर नाम के दूसरे सेठ रहते थे। उनके एक कन्या थी, नाम था विजया। वह सुन्दर और गुणवती थी। वह भी एक दिन साध्वियों के व्याख्यान में गई और शुक्ल पक्ष में ब्रह्मचर्य-पालन की प्रतिज्ञा कर ली। विजय और विजया दोनों ने अपने व्रत को अपने ही मन में रखा। यह कौन जानता था कि वे एक-दूसरे के अधूरे व्रत को पूर्ण कर देंगे।

विजया के पिता को पुत्री के विवाह की चिन्ता हुई। वर की खोज प्रारम्भ हुई। सभी की दृष्टि विजय कुमार पर आकर जम गई। दोनों का विवाह हो गया। सुहागरात उनके लिए वरदान बन गई, क्योंकि दोनों ने ब्रह्मचर्य पालन करने की शपथ ले रखी थी। उन दोनों ने संयम की लकीर को नहीं काटा और अपने-अपने संकल्प में दृढ़ रहे। दोनों के व्रत एक-दूसरे के पूरक बन गए थे।

विजया ने कहा—"नाथ ! आप दूसरा विवाह कर लीजिए। मेरी चिन्ता मत कीजिए। मैं इस पथ पर ही चलना चाहती थी, किन्तु आत्मबल की कमी के कारण साहस नहीं होता था। आपने हाथ पकड़ कर उस पर खड़ा कर दिया। इससे बढ़ कर मेरे लिए सौभाग्य की बात क्या हो सकती है ? आपने मेरा पाणिग्रहण किया, मेरे कल्याण का उत्तरदायित्व आपने अपने ऊपर लिया और पहले ही दिन परम कल्याण के पथ पर अग्रसर कर दिया। आप जैसा आत्मोन्नति के पथ पर ले जाने वाला पति किसे मिल सकता है ? आप को प्राप्त करके मैं अपने को धन्य मानती हूं। किन्तु मैं यह नहीं चाहती कि मेरे कारण आपको कठोर व्रत अंगीकार करना



पड़े। आप पर वंश चलाने का उत्तरदायित्व है। यदि आप दूसरा विवाह न करेंगे, तो माता-पिता की इच्छा अपूर्ण रह जाएगी। उनकी इच्छा को पूर्ण करना आपका कर्तव्य है। मैं आप दोनों की सेवा करूंगी। इसमें मुझे आनन्द ही प्राप्त होगा।"

"नहीं, ऐसा नहीं हो सकता।" विजय कुमार ने दृढ़ता के साथ कहा। "जिस पथ पर तुम चलना चाहती हो क्या वह मेरे लिए स्पृहणीय नहीं है ? विवाह का उद्देश्य केवल भौतिक आनन्द नहीं है। यह तो पशु-धर्म है। पाशविक वृत्तियों की तृप्ति है। बिना विवाह के भी पशु इसका सम्पादन करते हैं। इसमें विवाह की क्या महत्ता है। विवाह का उद्देश्य है, स्त्री और पुरुष मिलकर एक-दूसरे की कमी को पूर्ण करें। जीवन के महान संघर्ष में दोनों परस्पर सहायक हों। स्त्री को देख कर पुरुष में उत्साह जागृत हो और वह जलती हुई आग में कूदने के लिए उतावला हो उठे। पुरुष को देखकर स्त्री में आत्मविश्वास की भावना उत्पन्न हो। स्त्री पुरुष के लिए प्रेरक हो और पुरुष स्त्री के लिए। वासना पूर्ति तो एक दुर्बलता है। उस महान लक्ष्य के मार्ग में एक विश्रान्ति है। जो पथिक उसी विश्रान्ति को चरम लक्ष्य मान कर बैठ जाता है, आगे नहीं बढ़ता, उसे पथभ्रष्ट कहना चाहिए। बिना विश्रान्ति के सतत चलता रहने वाला पथिक पथभ्रष्ट नहीं कहा जा सकता। नया विवाह कर लेने पर वह चरम लक्ष्य मुझ से दूर-हो जाएगा। मैं यह नहीं चाहता। हम दोनों पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए उस लक्ष्य की ओर मिल कर बढ़ेंगे। हमारी प्रतिज्ञाएं हमारे लिए वरदान सिद्ध होंगी।

"वंश चलाने का मोह भी मनुष्य की स्वार्थ वृत्ति ही है। जो मनुष्य अपने जीवन को परमार्थ के साधन में लगाना चाहता है,उसे सन्तान उत्पन्न करने की आवश्यकता नहीं है। दूसरी बात यह है कि ब्रह्मचर्य और विवाह का उच्च आदर्श स्थापित करके हम जिस वंश की स्थापना करेंगे वह दुनिया को सदा कल्याण के मार्ग में प्रवृत्त करता रहेगा।"

दोनों ने यह भी निश्चय किया कि "हम अपने व्रत की घोषणा नहीं करेंगे। दोनों दृढ़ता के साथ परीक्षण करेंगे और जिस दिन यह बात प्रकट हो जाएगी मुनिव्रत अंगीकार कर लेंगे।"

जिस दुर्गम पथ पर बड़े-बड़े योद्धा कायर बन जाते हैं। जहां ज्ञानियों का ज्ञान, ध्यानियों का ध्यान, तपस्वियों का तप, साधकों की साधना और व्रतधारियों की निष्ठा, सब कुछ डांवांडोल होने लगता है और जिस पर बड़े-बड़े ऋषि-मुनि फिसल गए, उसी पर दोनों चल पड़े।

दोनों अपने मन की दृढ़ता का परीक्षण कर रहे थे। विजया सदा विजय कुमार के पास रहती थी और विजय कुमार विजया के पास। दोनों एक साथ उठते-बैठते और सोते थे। विजया विजय के लिए पत्नी थी और विजय विजया के लिए पति। किन्तु वे उस अवस्था पर पहुंच चुके थे जब पति और पत्नी का सम्बन्ध वासना को पार करके विशुद्ध प्रेम में परिणत हो जाता है। जहां त्याग में आनन्द आता है, भोग-लिप्सा में नहीं। जहां बलिदान है, प्रतिदान नहीं। समर्पण है, प्रत्याशा नहीं। उत्सर्ग है, कामना नहीं। नवयुवक और नवयुवती होने पर भी वे प्रेम की उस परिपक्वता पर पहुंच गए थे, जिसने वासना को निर्मूल कर दिया था।

सर्वज्ञ सर्वदर्शी महामुनि विमल विचरते हुए चम्पा नगरी में पधारे। सारे नगर में धूम मच गई। जनता दर्शनार्थ जाने लगी।

उसी नगरी में सेठ जिनदास रहते थे। रात्रि के अन्तिम पहर में उन्होंने एक सपना देखा "चौरासी हजार महातपस्वी मुनि एक महीने के अनशन का पारण करने लिए घर आए। सभी को आहार-पानी दिया गया और वे पारणा करके स्वेच्छानुसार विहार कर गए।"

चौरासी हजार साधुओं के दर्शन ही बड़े सौभाग्य की बात है। फिर ऐसे तपस्वियों की लम्बी तपस्या के पारने का सुयोग प्राप्त होना, महान पुरुषों का फल है। स्वप्न होने पर भी जिनदास ने अपने को भाग्यशाली माना।

उसने भगवान से स्वप्न का फल पूछा। भगवान ने बताया—"तुम विजय और विजया के दर्शन करो। उसका उतना ही फल होगा, जितना चौरासी हजार महातपस्वियों को पारणा कराने में है।"

विजय और विजया ने बारह वर्ष एक साथ रहकर अपने व्रत का कठोर परीक्षण किया। उसके बाद मुनिव्रत अंगीकार करके मोक्ष प्राप्त किया। सेठ ने भी दोनों के दर्शन करके अपने को कृतार्थ किया।

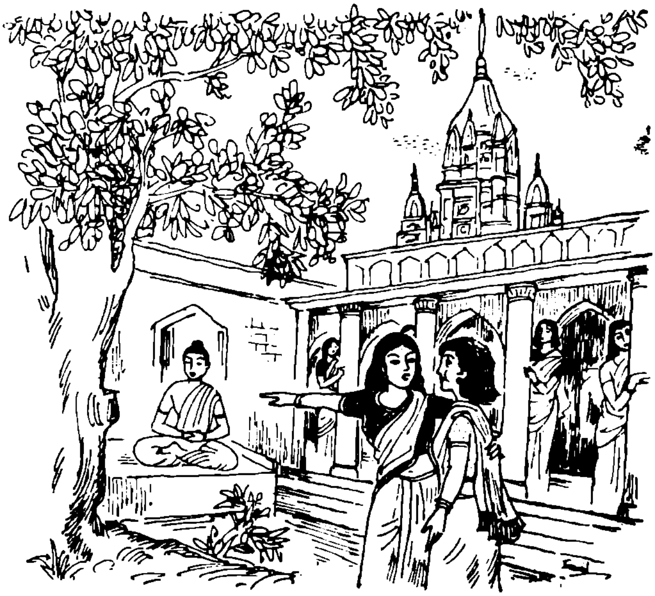
प्रेम के धागे

मन्दिर के एक कोने में मुनि समाधि लगाए बैठे थे। दुनिया की बातों से बेखबर, आत्मचिंतन में लीन। इतने में बहुत-सी बालिकाएं खेलती हुई वहां आ पहुंची। उनकी आंखों में भोलापन था, गति में चंचलता, हृदय में उत्सुकता तथा वाणी में मृदुलता थी। वे सभी यौवनावस्था में पदार्पण कर रही थी।

बालिकाओं ने दूल्हा-दुलहिन का खेल प्रारम्भ किया। सभी ने मन्दिर के एक-एक स्तम्भ को अपना पति चुन लिया। श्रीमती बच गई। उसे कोई स्तम्भ न मिला।

सहेलियों ने मुनि की ओर संकेत करके कहा—"तुम्हारे पति वह रहे।" श्रीमती ने मुनि को ही अपना पति मान लिया।

थोड़ी देर खेल कर बालिकाएं अपने-अपने घर चली गईं। मुनि भी दूसरे दिन चले गए।



श्रीमती सयानी हुई। उसके पिता बसन्तपुर के बड़े सेठ थे। विवाह की बातें प्रारम्भ हुई। भला कन्या बिना विवाह के कैसे रह सकती है। हमारी सामाजिक व्यवस्था ही ऐसी है। कन्या को किसी की वधू बनना ही पड़ता है। श्रीमती के लिए भी यह प्रश्न उपस्थित हुआ। माता तथा पिता प्रतिदिन वरों की चर्चा करते लगे।

किन्तु श्रीमती को वह चर्चा अच्छी न लगती थी। वह एक व्यक्ति को अपना आराध्य देव मान चुकी थी। उसे पति के रूप में स्वीकार कर चुकी थी। यह कार्य खेल में हुआ या गम्भीरता के साथ, इस बात को वह महत्व नहीं देना चाहती। वह तो एक ही बात जानती थी कि उसने अपने हृदय से एक बार किसी को पति मान लिया है। आखिर पति और पत्नी का सम्बन्ध एक कल्पना ही तो है। संसार के सभी नाते कल्पना मात्र हैं। मानो तो सब कुछ है, न मानो तो कुछ भी नहीं। श्रीमती मान चुकी थी। अब उससे हटना नहीं चाहती थी।

उसने अपने विचार माता के सामने रखे। माता ने कहा—"बेटी! यह तेरा भोलापन है। अज्ञानता है। भला खेल की बातें भी कहीं सच्ची होती हैं? खेल में तो लड़कियां प्रतिदिन नया पति चुनती हैं, क्या वही उनका वास्तविक पति हो जाता है!"

"जिसे समाज विवाह कहता है, वह खेल ही तो है।" श्रीमती ने उत्तर दिया। "अन्तर केवल इतना ही है कि हमने वे विधि-विधान नहीं किए जो समाज में प्रचलित हैं। वहां न अग्नि-साक्षी थी और न कन्यादान हुआ और न उसका पाणिग्रहण हुआ था। किन्तु ये तो बाह्य वस्तुएं हैं। विवाह का वास्तविक सम्बन्ध तो हृदय से है। जिसे हृदय एक बार चुन लेता है वही पति है।"

मनुष्य ज्यों-ज्यों बड़ा होता है और सभ्यता, संस्कृति तथा समाज का आविष्कार करता है, उसका जीवन कृत्रिम बनता है। उस समय व्यक्ति और समष्टि, घर और बाहर, खेल और यथार्थ, स्वार्थ और परमार्थ आदि के रूप में उसके सामने प्रत्येक बात के दो पहलू खड़े हो जाते हैं। बालक की दुनिया में वह द्वन्द्व नहीं होता। उसके सामने कल्पना और यथार्थ तथा खेल और वास्तविकता में कोई अन्तर नहीं होता। उसके सामने सब कुछ यथार्थ है। उसके लिए आकाश में उड़ने वाली परियों की कहानी तथा भूत-प्रेत उतने ही यथार्थ है जितने माता-पिता तथा दूसरे साथी। श्रीमती की दुनिया में उस खेल और इस खेल में कोई अन्तर न था।

माता ने बहुत कहा। पिता ने बहुतेरा समझाया। सखी सहेलियां हार गईं। किन्तु वह न टली।

अन्त में मुनि की खोज प्रारम्भ हुई। न नाम, न ठिकाना। भला मुनि कहां मिलते?

श्रीमती एक ही बात जानती थी कि उनके दांये पैर पर तिल है। किन्तु इतने मात्र से क्या पता लगता है। यह भी तो विचारणीय था कि घरबार छोड़ कर संन्यासी बनने वाला वह महापुरुष विवाह के लिए कैसे तैयार होगा? भला वह इस बन्धन में क्यों फंसने लगा?

सब निराश होकर बैठ गए। सोचा था, कुछ दिनों में लड़की के विचार बदल जाएंगे। किन्तु वह न बदली।

इसी प्रकार कई वर्ष बीत गए। मुनि घूमते-घूमते एक बार फिर बसन्तपुर में आ पहुंचे। और लोगों के साथ श्रीमती भी दर्शनार्थ गईं। उसने पैर देखते ही मुनि को पहचान लिया। श्रीमती को अपने इष्टदेव मिल गए।

आर्द्रक मुनि एक राजकुमार थे। सम्पत्तियां तथा भोग-विलास उनके चरणों पर लोटते थे। उन सबको तुच्छ समझकर उन्होंने भिक्षुव्रत अंगीकार किया था। फिर भला वह उस ओर कैसे आकृष्ट होते? सभी प्रलोभन बेकार गए। सभी दबाव व्यर्थ सिद्ध हुए।

किन्तु श्रीमती हताश न हुई। उसने सोचा—'त्यागी को त्याग द्वारा जीता जा सकता है, भोग द्वारा नहीं। यदि मैं वास्तव में उनकी पत्नी बनना चाहती हूं, तो मुझे उनके योग्य बनना चाहिए।' यह सोचकर उसने कठोर तपस्या प्रारम्भ कर दी।

आर्द्रक कुमार का हृदय भी पिघल गया। श्रीमती की साधना के सामने उन्हें झुकना पड़ा। जिसे अपने सुख-दुख की तनिक भी परवाह न थी, जो प्रफुल्ल हृदय से मृत्यु का आलिंगन करने के लिए तत्पर था, वह भक्ति के सामने झुक गया। उसने बंधन में फंसना स्वीकार कर लिया। जो व्रत उन्हें जीवन से भी प्यारा था, जिसके सामने समस्त संसार को तुच्छ समझ रखा था, भक्त की भावना से प्रेरित होकर उसे भी त्यागना स्वीकार कर लिया। वह श्रीमती की प्रार्थना को नहीं ठुकरा सके।

मुनिवेश छोड़कर वह गृहस्थ बन गए। विवाह किया, सन्तान हुई। पूर्व निश्चयानुसार उन्होंने दुबारा दीक्षा लेने का विचार प्रकट किया। श्रीमती ने कहा—"अभी बालक छोटा है। जब चलने-फिरने लग जाए तब जैसी आप की इच्छा हो कर लीजिएगा।"

समय बीतते देर नहीं लगती। बालक चलने-फिरने लगा, आर्द्रक कुमार ने फिर अपना विचार प्रकट किया। श्रीमती चुप रही।

दूसरे दिन अचानक वह चरखा लेकर कातने लगी। खेलता हुआ बालक आ पहुंचा। पूछा —"मां ! यह क्या कर रही हो ?"

"बेटा ! तुम्हारे पिताजी घर छोड़कर जाने वाले हैं। उसके बाद में कमाने वाला कोई न रहेगा। अब चरखा कात कर अपना और तुम्हारा पेट भरूंगी।" माता ने दुखी होते हुए उत्तर दिया।

"मैं, पिताजी को बांध दूंगा। फिर, वह कैसे जाएंगे ?" बालक ने बालसुलभ भोलेपन के साथ कहा।

उसने उसी समय कते हुए सूत के दो गोले उठा लिए। आर्द्रक कुमार लेटे हुए थे। उसने जाकर चारों ओर सूत लपेट दिया।

पिता ने लेटे-ही-लेटे हंसते हुए पूछा—

"तुम ने मुझे क्यों बांधा है ?"

"तुम भागना जो चाहते हो, मैं तुम्हें नहीं भागने दूंगा। देखूं, अब कैसे जाते हो ?" बालक के स्वर में दृढ़ता थी।

पिता प्रेम के उन धागों को नहीं तोड़ सके। वह अपनी हार मान गए। लेटे-ही-लेटे बोले —"अच्छा, नहीं जाऊंगा। अब तो खोल दो।"

"नहीं ! तुम चले जाओगे।"

"नहीं जाऊंगा। विश्वास रखो।"

बालक ने धागे खोल दिए। आर्द्रक कुमार ने अपने निश्चय को फिर स्थगित कर दिया। बालक जब तक युवा नहीं हो गया तब तक घर बार छोड़ने का विचार उनके मन में फिर नहीं आया।

धर्म-नायक

"ऊदा जी ! यदि आप दीक्षा ले लेंवे तो आत्म-कल्याण के साथ समाज का बहुत भला कर सकते हैं।" एक साधु वेशधारी वृद्ध ने कहा।

वृद्ध महानुभाव मारवाड़ के सोजत नगर में रहते थे। वेश तो साधु का था किन्तु क्रिया-काण्ड में वह उग्रता न थी, जिसकी आशा समाज करता है। लोग उन्हें साधु मान कर वन्दना तो न करते थे किन्तु धार्मिक क्रियाओं के लिए उनके पास आते-जाते थे। उनका नाम था-भोपजी स्वामी।

उन दिनों सभा, सोसायटियां या क्लब नहीं थे। इन सब की पूर्ति धर्म-स्थान किया करते थे। अवकाश के समय नागरिक अपनी-अपनी श्रद्धा के अनुसार किसी धर्म-स्थान में एकत्रित हो जाते और विविध चर्चाएं किया करते। अच्छी भी और बुरी भी। नगर की बातें भी होती और परलोक की भी। जिसकी जैसी रुचि होती वह वहीं जा बैठता। भोपजी का उपाश्रय एक ऐसा ही स्थल बना हुआ था।

धार्मिक चर्चा करने वाली मण्डली में उदयसागरजी नाम के एक नवयुवक आया करते थे। प्रतिभाशाली तथा तेजस्वी होने के साथ धार्मिक बातों का अच्छा ज्ञान रखते थे। अपनी बात को कहने और विषय का प्रतिपादन करने का उनका ढंग रोचक था। भोपजी स्वामी तथा दूसरे धार्मिक प्रवृत्ति वाले लोगों को उनकी बातों में आनन्द मिलता था। एक दिन स्वामी जी के मुख से सहसा उपरोक्त बात निकल पड़ी। उस समय कौन जानता था कि वह सिद्ध योगी की भविष्य-वाणी के समान सत्य सिद्ध होगी।

उदयसागरजी ने इस बात को चेतावनी समझा। जिस मार्ग को वह चिरकाल से ढूंढ रहे थे, भोपजी स्वामी ने उसी ओर संकेत कर दिया। वह मन ही मन उस वाक्य को दोहराने लगे, और वैराग्य भावना को दृढ़ करने लगे। अन्त में उन्होंने पूज्य श्री हुकमीचन्दजी महाराज के सम्प्रदाय से दीक्षा ले ली।

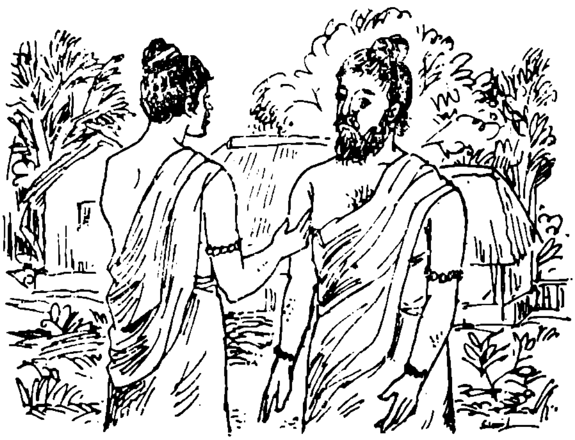
प्रतिभा छिपी नहीं रहती। उदयसागरजी समाज में चमकने लगे। ज्ञान, रुचि और चरित्र सभी बातों में उनका उच्च स्थान था। गुणों से प्रभावित होकर तत्कालीन आचार्य पूज्य श्री शिवलालजी महाराज ने उन्हें अपना युवराज चुन लिया।

थोड़े दिनों बाद पूज्य श्री शिवलालजी महाराज का स्वर्गवास हो गया। उदयसागरजी विशाल सम्प्रदाय के आचार्य बन गए। उनके अनुशासन, व्यवस्थाशक्ति, कठोर संयम तथा दूसरे गुणों के कारण सम्प्रदाय दिन प्रतिदिन उन्नति करने लगा। उग्र क्रियाकाण्ड तथा दृढ़ता के लिए दूसरे सम्प्रदाय उसकी धाक मानने लगे।

विहार करते हुए पूज्य श्री उदयसागरजी सोजत आए। हजारों श्रावक तथा श्राविकाएं दर्शन के लिए टूट पड़े। चारों ओर जयनाद हो रहा था। ऐसे समय व्यक्ति को अपनी पद मर्यादा का विशेष ध्यान रहता है। पूर्वावस्था के साथियों तथा शुभाकांक्षियों को वह भूल जाया करता है। किन्तु पूज्य श्री ने आते ही भोपजी स्वामी के विषय में पूछा और उनके पास जाने की इच्छा प्रकट की।

यह बात सुनकर समाज के मुख्य श्रावक तथा साधु चकित रह गए। उनके सम्प्रदाय का आचार्य एक साधारण शिथिलाचारी के पास जाए, उन्हें यह अपना अपमान-सा प्रतीत होने लगा।

पुत्र मोह से अन्धी होकर माता बालक के स्वतन्त्र विकास में बाधक बन जाती है। उसे बालक की रुचि या उन्नति का ध्यान नहीं रहता। जो वस्तु उसे स्वयं अच्छी लगती है वही बालक को खिलाती है। जो कपड़े देखने में उसे अच्छे लगते हैं, वही बालक को पहनाती है। जिस तरह उठना-बैठना उसे पसन्द है, बालक को वैसे ही करना पड़ता है। उसे इस बात का ध्यान नहीं रहता कि बालक भी मानव है, समझता-बूझता है, उसकी अपनी रुचि है, सुख-दुख की अनुभूति है।



अन्ध भक्त भी अपने उपास्य से ऐसी ही आशा करने लगता है। वह अपने धर्मगुरु को अपनी इच्छानुसार चलाना चाहता है। सच्चा भक्त उपास्य के इंगितों पर स्वयं नाचता है और अन्ध भक्त स्वयं अड़ा रहकर उपास्य को अपनी इच्छानुसार चलते हुए देखना चाहता है। जिस बात से उसके अहंकार को आघात पहुंचे, उसे करने से वह अपने धर्माचार्य को भी रोकता है। उसकी दशा उस अन्धे सरीखी होती है जो दूसरे के हाथ में लाठी देकर भी स्वयं दिशा प्रदर्शन करता है। जो ठीक मार्ग पर ले जाते हुए अग्रणी को इसलिए कोसता है क्योंकि वह स्वयं आगे नहीं बढ़ना चाहता और नेता पर उन्मार्गगामी होने का आरोप लगाता है। अन्ध भक्त यह भूल जाता है कि उसका पथप्रदर्शक अपनी आंखों से देखकर चलेगा। वह अनुयायी की इच्छाओं का अनुसरण नहीं कर सकता। वह तो सत्य का पथिक है और सत्य का

प्रदर्शक है। मानव-स्वभाव की यह एक दुर्बलता है कि वह कष्ट का अनुभव करता है। वह सत्य को अपने अन्धविश्वासों में सीमित कर लेना चाहता है। यहीं से धार्मिक झगड़े शुरू होते हैं और मत-मतान्तरों से दुनिया भर जाती है।

एक मुनि ने पूज्य श्री से कहा—"महाराज ! आप उग्रबिहारी सम्प्रदाय के आचार्य हैं। शिथिलाचारी के पास जाना आपको नहीं कल्पता।"

एक श्रावक ने कहा—"पूज्यराज ! उस शिथिलाचारी के पास जाने से सम्प्रदाय का अपमान होगा।"

तीसरे ने कहा—"इसमें मिथ्यात्व लगता है।"

चौथे ने कहा—"वहां जाने से मुनिव्रत में दोष लगेगा।"

इस प्रकार चारों ओर से विरोध होने लगा। लब्धप्रतिष्ठ नेता के लिए ऐसा समय बड़े संकट का होता है। एक ओर मान-मर्यादा और दूसरी ओर सत्य। दोनों का संघर्ष प्रारम्भ होता है। निर्बल हृदय नेता सत्य को छोड़ देते हैं। जनता को ठुकराना उनकी शक्ति से बाहर हो जाता है, वह लोक विचारधारा की ओर झुक जाते हैं।

व्यक्ति शुद्ध हृदय से समाज सेवा में प्रवृत्त होता है। त्याग और बलिदान से प्रभावित होकर जनता उसे अपने सिर पर उठा लेती है और सत्यासत्य का निर्णय किए बिना ही उसके पीछे हो लेती है। थोड़ी दूर चलने पर नेता को अपनी भूल मालूम पड़ती है किन्तु सुधारने का बस नहीं रहता। उसे यह भय होता है कि पूर्व प्रतिपादित बात को असत्य कहने पर कहीं पूजा-प्रतिष्ठा में धक्का न लगे, जो घरबार छोड़ देने पर उसकी एकमात्र सम्पत्ति है। उसकी रक्षा के लिए वह समझ-बूझ कर असत्य पथ को पकड़े रहता है। इस प्रकार समाज नेता को बांध लेता है और नेता समाज को। दोनों का विकास रुक जाता है और प्रवृत्ति प्रतिगामी बन जाती है। समय की प्रगति की ओर आंखें बंद करके अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए संघर्ष करने वाले हजारों मत और सम्प्रदाय इसी प्रवृत्ति के परिणाम हैं। संसार का हितसाधन उनका लक्ष्य नहीं रहता। लक्ष्य रहता है केवल अपने अस्तित्व का रक्षण। अपने अहंकार और दम्भ का पोषण तथा धर्म के आवरण में स्वार्थ-साधन।

दुर्बल नेता अनुयायियों का रुख देखने लगता है। जो बात उन्हें पसन्द नहीं होती, वह न उसे कर सकता है, न कह सकता है। किन्तु पूज्य उदयसागरजी में एक विलक्षणता थी। वह उचित बात के लिए समाज से कभी न डरते थे। वह मानते थे, समाज का नेतृत्व समाज की इच्छा पर चलने से नहीं होता। सच्चे नेता का कर्त्तव्य है—विरोध, अपमान और कष्ट सहते हुए भी सत्य को न छोड़े। वह तो अनुयायियों के सामने नए-नए आदर्श स्थापित करता है, स्वयं उनका अनुयायी नहीं बनता।

जिस व्यक्ति ने हमारे लिए एक बार भी सच्चे हृदय से शुभाकांक्षा प्रकट की, जिसने जीवन को उज्ज्वल बनाने के लिए दिशासूचन किया, वह हमारा उपकारी है। उसके उपकार के लिए हमें कृतज्ञ होना ही चाहिए। उसे घृणा की दृष्टि से देखना कृतघ्नता है। इन्हीं बातों को सोचकर पूज्य श्री ने कहा—"सम्प्रदाय की मर्यादा मिथ्याभिमान के पोषण में नहीं है। नम्र बनने से कोई छोटा नहीं होता। हम जितने नम्र बनेंगे, उतना ही हमारा और समाज

का सम्मान बढ़ेगा। नम्रता मनुष्य को ऊंचा उठाती है। गुण और दोष प्रत्येक व्यक्ति में पाए जाते हैं। हमें गुणों के प्रति ही ध्यान देना चाहिए, दोषों के प्रति नहीं। गुण चाहे किसी में हों उनका आदर करना चाहिए। जो गुणों का आदर नहीं करता, वह उन्हें नहीं प्राप्त कर सकता।

"किसका हृदय कैसा है, यह हम नहीं जानते। हो सकता है, हम जिसे उत्कृष्ट साधु मानते हैं उसका हृदय कलुषित हो और वह नैतिक दृष्टि से बहुत गिरा हुआ हो। जो बाह्याचार में शिथिल मालूम पड़ता है उसका भी हृदय पवित्र एवं उदात्त हो सकता है। भगवान महावीर के समय ऐसे साधु वेशधारियों की पूजा होती रही है जो अभवी थे। क्या उनकी पूजा करने वाले साधु और श्रावक अपने व्रत से गिर गए?

"किसी को पूजने या वन्दना करने मात्र से कोई मिथ्यात्वी नहीं बनता। मिथ्यात्व तभी लगता है जब दोषों को गुण मान लिया जाए। व्यक्ति तो केवल उनका आश्रय है जिसे हम अपनी इच्छानुसार मान लेते हैं। सम्यकत्व और मिथ्यात्व का आधार गुण और दोष हैं, व्यक्ति नहीं। व्यक्ति तो बदलता रहता है। आज का पापी कल साधु बन सकता है। साधु गिर कर पापी हो सकता है। क्या वेश बदलने और पट्टी पढ़ लेने मात्र से कोई साधु बन जाता है? क्या इतने मात्र से वन्दना-योग्य हो जाता है। वन्दना उन गुणों की की जाती है, जिनकी आशा हम उस व्यक्ति में करते हैं।

"हम एक धनवान का इसलिए आदर करते हैं कि उसके पास धन है, यह मिथ्यात्व है। राजा का इसलिए आदर करते हैं कि उसके पास हिंसात्मक शक्ति है, यह मिथ्यात्व है। वासनात्मक प्रेम मिथ्यात्व है, मोह मिथ्यात्व है।

"यदि एक चोर हमारी सहायता करता है तो उसका भी उपकार मानना ही चाहिए। इस का यह अर्थ नहीं है कि हम चोरी को प्रोत्साहन देते हैं। हम तो उसका ध्यान उन गुणों की ओर खींचते हैं, जिसके कारण दूसरे अवगुण होने पर भी वह श्रद्धा-भाजन बन गया। चोर को सुधारने का यह सबसे उत्तम उपाय है कि हम उसका ध्यान उन गुणों की ओर आकृष्ट करें जिनसे वह विश्वासपात्र एवं सम्मानित नागरिक बन सकता है।"

इस प्रकार श्रावकों को समझाकर पूज्य श्री भोपजी स्वामी के पास पहुंचे। पीछे-पीछे साधु तथा श्रावकों का विशाल समुदाय था।

भोपजी उपाश्रय में अकेले बैठे हुए थे। आचार्य को अपने सम्मुख देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। पूज्य श्री ने स्वामी जी के प्रति आदर प्रकट किया और पूर्वोक्त वाक्य के लिए उनका उपकार माना।

स्वामीजी गद्गद हो उठे। उनके हृदय में पूज्य श्री की नम्रता, कृतज्ञता और सहजबन्धुता के प्रति भक्ति जाग उठी। इतने बड़े सम्प्रदाय का तेजस्वी आचार्य अनायास कही हुई बात के लिए कृतज्ञता प्रकट कर रहा है। दूसरे के राई सरीखे गुण को भी उसने पहाड़ बना दिया।

आचार्य की गुणग्राहिता के प्रति स्वामीजी का मस्तक झुक गया, साथ ही अपनी शिथिलता पर आत्मग्लानि होने लगी।

उसी दिन से स्वामीजी का जीवन बदल गया। ढोंग तथा दिखावे से घृणा हो गई। वह अपनी शक्ति के अनुसार शुद्ध हृदय से धर्म का पालन करने लगे। जितना करते उससे कम कहते। दिखावा बिल्कुल न रहा। दिन-रात आत्म-चिन्तन में लगे रहते। अनेक शास्त्रों के अध्ययन तथा हजारों उपदेशों से जिस पर कोई असर न हुआ, उसे महापुरुष के क्षण-भर के समागम ने बदल दिया।

मां का हृदय

अरणक माता-पिता की इकलौती सन्तान था। उमर ढलने पर पैदा हुआ था, इसलिए अत्यन्त लाड़ तथा स्नेह में पला था। दोनों उसे देखकर जीते थे। पिता माण्डलिक राजा थे। अतुल ऐश्वर्य था, प्रभुत्व था, सुख सम्पत्ति थी।

राजा ने एक दिन भगवान महावीर का उपदेश सुना। अपनी उमर ढलती देखी। दीक्षा लेने का विचार कर लिया। साथ में रानी भी तैयार हो गई। उन्होंने अरणक से राज्य सम्भालने के लिए कहा, किन्तु वह न माना। उसे विश्वास था, माता-पिता जिस पथ पर जा रहे हैं, वह अप्रिय या अहितकर नहीं हो सकता। अरणक भी साथ ही दीक्षित हो गया।

पिता अरणक को बड़े स्नेह से रखते थे। उसे भिक्षा के लिए न भेजते। अच्छा भोजन देते। अच्छे वस्त्र पहनाते। साधु के लिए आवश्यक दैनिक कार्यों को भी यथासम्भव वह ही पूरा कर डालते। साधु होने पर भी वह मोहपाश को न तोड़ सके।

कुछ समय बीतने पर पिता का देहान्त हो गया। अरणक अकेले रह गए। गच्छ के आचार्य का भी अरणक पर काफी स्नेह था किन्तु वह यह न चाहते थे कि अरणक कर्तव्य पालन से विमुख रहे। उनकी इच्छा थी - 'अरणक साधु समाचारी सीखे। शास्त्रों को पढ़े। धर्म का तत्व समझे और एक दिन गच्छ का नायक बन जाए।'

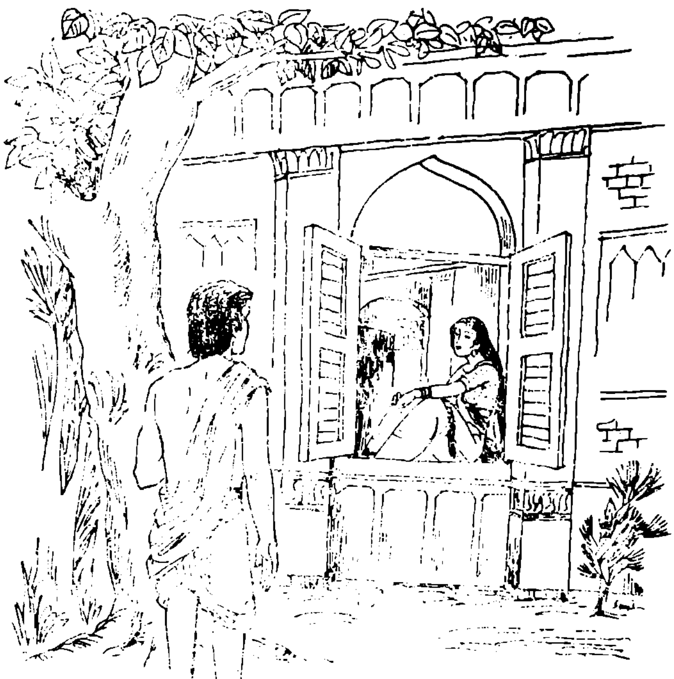
जेठ का महीना था। कड़ी धूप पड़ रही थी। सूर्य अपनी चरमसीमा पर था। चारों ओर आग बरस रही थी। अरणक मुनि नंगे पैर और नंगे सिर भिक्षा के लिए निकले। कुछ ही दूर चले थे कि पैरों में छाले पड़ गए। ऊपर से सिर झुलसने लगा। मन-ही-मन पछताने लगे— 'मुनिव्रत मेरे बस का नहीं है। मैंने अपने आप यह मुसीबत मोल ली। किसी प्रकार छूट जाऊं तो ठीक है।'

सामने एक वृक्ष था। वह छाया में खड़े हो गए। शरीर सुन्दर था किन्तु मुख पर उदासी छाई हुई थी।

दक्षिण की ओर एक सुन्दर प्रासाद था। बहुत ऊंचा तथा विशाल। मालूम पड़ता था उसका स्वामी सम्पन्न व्यक्ति रहा होगा। खिड़की खुली थी। उसमें एक युवती बैठी थी। उसने अरणक की ओर देखा तो सहानुभूति से हृदय भर आया। कहां यह कोमल शरीर और कहां कठोर व्रत ? सचमुच, साधुओं के हृदय नहीं होता। कहीं रुई के खम्भों पर प्रासाद खड़ा किया जा सकता है ? उसे उठाने के लिए पाषाण चाहिए। उसने दासी भेजकर मुनि को निमन्त्रित किया।

अरणक आए। सहानुभूति धीरे-धीरे स्नेह में परिणत होने लगी। युवती उनकी ओर आकृष्ट होती गई। उसने पौष्टिक तथा रसयुक्त भोजन से पात्र भर दिया। कुछ देर विश्राम

करने की प्रार्थना की। वहीं बैठकर भोजन करने का आग्रह किया। स्वयं पंखा झलने लगी। अरणक उसकी प्रार्थना को आज्ञा के समान मानते गए।



वह उसी युवती के साथ रहने लगे। भोग-विलास तथा आनन्द में दिन कटने लगे। अनुकूल रहन-सहन और भोजन के कारण अरणक का शरीर कई गुना चमक उठा।

मां को मालूम पड़ा—अरणक भिक्षा के लिए गए थे, फिर वापस नहीं लौटे। साध्वी होने पर भी मोह जाग उठा। वह अरणक को ढूंढ़ने लगी। गलियों में घूमती। सड़कों पर घूमती। दिन भर अरणक-अरणक पुकारती रहती। लोग उसे 'पगली' कहते। बालकों का झुण्ड पीछे लग जाता। कोई कहता, अरणक उधर है तो वह उसी ओर दौड़ पड़ती। लोग अपनी तरफ से मजाक करते थे किन्तु वह सत्य ही समझती थी। वह मजाक को भूल गई थी।

एक दिन इसी प्रकार चिल्लाती हुई वह उस प्रासाद के नीचे से निकली। अरणक अपनी प्रेयसी के साथ खिड़की में बैठा था। मां के शब्द कानों में पड़े। पुरानी स्मृतियां जाग उठीं। वह दौड़ा-दौड़ा नीचे आया। सामने आकर बोला—"मां! मैं यह रहा। जिसको तुम ढूंढ़ रही हो मैं वही अरणक हूं।"

मां ने आंखें फाड़कर देखा। सामने सुन्दर वस्त्र तथा आभूषण पहने एक युवक खड़ा था। मां ने कहा—"मेरा अरणक तो साधु था। तू मेरा अरणक नहीं है।" वह अरणक-अरणक कहती हुई आगे चल दी।

अरणक फिर प्रासाद में न जा सका। वह उसी समय वन की ओर चल दिया। धूप से जलती हुई शिला पर समाधि लगा कर बैठ गया। उसका शरीर झुलस रहा था।

मां भी उधर आ पहुंची। अरणक का शरीर जल रहा था किन्तु वह निश्चय समाधि में लीन था। वह बोली—"यह रहा मेरा अरणक।"

भाई की हां

मगध देश में सुग्राम नाम का गांव था। वहां भवदत्त और भवदेव नाम के दो भाई रहते थे।

भवदत्त बड़ा था और भवदेव छोटा। बड़े भाई ने आचार्य सुस्थित के पास मुनिव्रत ले लिया। उस समय उसकी आयु बीस वर्ष के लगभग होगी। यौवन प्रस्फुटित हो रहा था। हृदय में उत्साह था; उमंगें थीं, मनसूबे थे और यौवन की अभिलाषाएं भी थीं। किन्तु भवदत्त ने उनके प्रवाह को बदल दिया। उन्हें सांसारिक भोगों से हटाकर त्याग की ओर लगा दिया। वह भोगी के स्थान पर योगी बन गया, विलासिता का स्थान कठोर संयम ने ले लिया।

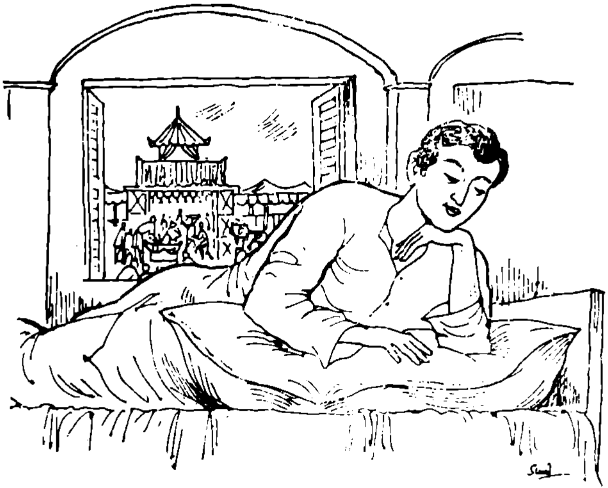
आचार्य सुस्थित विचरते हुए एक बार देवपुर पहुंचे। देवल वहां से दो कोस था। धर्मप्रिय अनगार के कुटुम्बी इसी जगह रहते थे। उनका छोटा भाई पवनकुमार भी वहीं रहता था। भाई से स्वाभाविक स्नेह था। आचार्य की अनुमति लेकर वह एक बहुश्रुत साधु के साथ देवल पहुंचे।

पवनकुमार के विवाह की तैयारियां हो रही थीं। सारे कुटुम्बी उसमें लगे हुए थे। चारों तरफ दौड़-धूप मची थी। एक ओर मिठाइयां बन रही थीं। दूसरी ओर मंडप तैयार हो रहा था। खुशियां मनाई जा रही थीं। हर्ष के फव्वारे छूट रहे थे। पवन अपने विवाहित जीवन की मधुर कल्पना से मन-ही-मन खुश हो रहा था। 'आनेवाली आएगी। वह कैसी होगी? उसका स्वागत कैसे करना होगा? पहले-पहल उसके सामने कैसे वस्त्र पहन कर जाना चाहिए? प्रथम मिलन के समय वार्तालाप कैसे आरम्भ किया जाएगा? कहीं कोई भूल न हो जाए और वह मुझे मूर्ख समझने लगे? पवन के मस्तिष्क को इन्हीं विचारों ने घेर रखा था।

बड़े भाई के आने का समाचार पहुंचा तो वह दुविधा में पड़ गया—'भला यह भी कोई उनके आने का समय है। मैं विवाह की खुशियां मना रहा हूं और वह त्याग का उपदेश देने आए हैं। क्या वह किसी और समय नहीं आ सकते थे? क्या वह मेरे रंग में भंग डालना चाहते हैं? स्वयं दीक्षा ले ली तो उनकी मर्जी। उन्होंने अपनी इच्छा से ऐसा किया है। मुझे जबर्दस्ती क्यों घसीटना चाहते हैं? मुझे सुख क्यों नहीं भोगने देते? फिर भी बड़े भाई हैं। अपमान करना तो उचित नहीं है।' फिर विवाह की स्मृतियां आईं। 'यदि उन्होंने त्याग का उपदेश प्रारम्भ कर दिया तो! मैं इस समय उनका उपदेश नहीं सुनना चाहता। अपने इस माधुर्य में कटुता नहीं मिलाना चाहता। मैं अभी स्वस्थ हूं। मीठा शरबत पी रहा हूं। जी भरकर पीऊंगा। वह नीम खाने को कहेंगे, चिरयाता पीने को कहेंगे। मैं क्यों खाऊं और क्यों पीऊं?'

पवन काफी देर तक उधेड़बुन में पड़ा रहा। एक झोंका इधर से आता था तो दूसरा उधर से। अन्त में यही निश्चय किया कि इस समय नहीं मिलना ही ठीक रहेगा। उसने मिलने से इन्कार कर दिया।

धर्मप्रिय को दीक्षा लिए बारह वर्ष हो गए थे। उस समय पवन दस वर्ष का था। चंचल था। मीठा बोलता था। बहुत सुन्दर था। उसे देखकर धर्मप्रिय की आंखों में आंसू छलछला



आए थे। वह भी भाई-भाई कहकर रो पड़ा था। उसका वह रुदन एवं आंसुओं से भरा मुख धर्मप्रिय को अभी तक याद था। माता-पिता तथा दूसरे सभी बन्धुओं से नाता तोड़ देने पर भी छोटे भाई का मोह हृदय के एक कोने में छिपा था। देवपुर आते ही पुरानी स्मृतियां नवीन हो गईं। भाई का मोह जागृत हो उठा। वह अपने को न रोक सके और मिलने चल पड़े।

परन्तु पवनकुमार से नहीं मिलने का उत्तर पाकर वह स्तब्ध रह गए। क्या संसार इतना कठोर हो सकता है? क्या वही भाई इस प्रकार का उत्तर दे सकता है? उन्हें अपने कानों पर विश्वास न हुआ। किन्तु बात ठीक थी। उनके न चाहने से वह अन्यथा नहीं हो सकती थी। मुनि उलटे पैरों वापस लौट गए। मोह की गांठ आघात पाकर खुल गई।

धर्मप्रिय अनगार ने आकर सारी बात आचार्य को सुनाई और आचार्य ने संसार के स्वभाव का वर्णन करते हुए शिष्यों को कहा।

वहीं भवदत्त बैठे थे। उन्होंने मन में सोचा—"क्या सभी भाई ऐसे होते हैं? मेरा भाई तो ऐसा नहीं है। क्या मैं भी परीक्षा लूं?'

कुछ दिनों बाद आचार्य सुस्थित विचरते हुए धर्मग्राम पहुंचे। यह स्थान सुग्राम से तीन कोस था। भवदत्त गुरु से पूछ कर भाई से मिलने चले।

भवदेव का विवाहोत्सव सम्पन्न हुए अभी एक सप्ताह से अधिक न हुआ था। दूर के सम्बन्धी चले गए थे। निकट के वहीं थे। नित्य प्रति उत्सव मनाए जा रहे थे। मित्रमण्डली भवदेव को घेरे रहती। कभी जलविहार का कार्यक्रम बनता तो कभी वनविहार का। हंसी-खुशी तथा आमोद-प्रमोद में न दिन के आए का पता लगता, न गए का।

विवाह के पश्चात होने वाली रस्में अभी पूरी न हुई थीं। गांव की युवतियों ने भवदेव और उसकी पत्नी के साथ मजाक करने में कोई कसर नहीं छोड़ रखी थी। दूसरा समय होता तो भवदेव किसी की न मानता। सबको बुरी तरह छकाता। किन्तु अब पालतू बन्दर के समान उनकी आज्ञा का पालन कर रहा था। वे कहतीं—उठ, तो उठ जाता। वे कहतीं—बैठ, तो बैठ जाता। स्त्री जाति को अपनी इस कुशलता पर गर्व हो रहा था कि उसने पुरुष नाम के उच्छृंखल प्राणी को किस प्रकार वश में कर लिया है? भवदेव उनकी सब आज्ञाओं को वरदान मान रहा था।

जिस समय भवदत्त मुनि सुग्राम पहुंचे, भवदेव, पत्नी को आभूषण पहनाने की रस्म पूरी कर रहा था। चारों तरफ युवतियों ने घेर रखा था। मधुर परिहास हो रहे थे। साथ में कटाक्ष भी। भवदेव पत्नी को आभूषण पहना रहा था। उत्सुकता के कारण कभी-कभी आंख उठाकर देखता किन्तु फिर नीची कर लेता।

वधू नागिला परम सुन्दरी थी। उसके नील धवल विशाल लोचन स्नेह की वृष्टि कर रहे थे। स्मित ओठों पर खेल रही थी। आंखें कुछ देखना चाहती थीं पर उठती न थीं। ओठ कुछ बोलना चाहते थे किन्तु थिरक कर रह जाते थे। लज्जा, हर्ष, नम्रता, उद्वेग, सम्भ्रम आदि बहुत से भाव मुख पर खेल रहे थे।

भवदेव ने अंगूठी पहनाई। रागरंजित नखों वाली सीधी तथा लम्बी अंगुलियों को देखा। कंकण पहनाए। कोमल बाहु पर आंखें गईं। गले में हार डाला। इतने में सूचना मिली—भवदत्त मुनि आए हैं और छोटे भाई से मिलना चाहते हैं।

भवदेव उठ खड़ा हुआ। अलंकारों की रस्म जहां थी, वहीं रह गई। भाभियों ने रोका—"देवर जी! एक कंठा तो और पहना जाओ!" बड़ी उमर वाली महिलाओं ने कहा—"इस प्रकार बीच में छोड़ने से अपशकुन होता है।" किन्तु उसने किसी की न सुनी। "अभी आता हूं," कहता हुआ वह सब कुछ बीच में छोड़ कर चला गया।

भाई के दर्शन किए। आंखों में आंसू छलछला आए। भवदत्त भी मोह के वेग को न रोक सके। दोनों भाई एक-दूसरे के आंसू पीने लगे।

भवदेव उन्हें भोजन के लिए कैसे कहे? आखिर तो वह मुनि थे। वह पात्र भरने के लिए घी की हंडिया उठा लाया, किन्तु मुनि का पात्र पहले से भरा हुआ था। कुटुम्बियों ने उनका हृदय से स्वागत किया था।

कुछ देर इधर-उधर की बातें करके मुनि ने चलने की इच्छा प्रकट की। गांव के लोग पहुंचाने के लिये साथ हो लिए। भवदेव भी घी की हंडिया कंधे पर रखे उनके साथ चल पड़ा।

कुछ दूर पहुंचाकर गांव के लोग लौट आए किन्तु भवदेव न लौटा। वह सोच रहा था—'बड़ा भाई जब तक अपने आप लौट जाने के लिए न कहे तब तक कैसे लौटूं?'

मुनि चलते-चलते उपाश्रय में पहुंच गए। दूसरे मुनियों ने जान लिया साथ में भाई ही होगा। एक ने हंसी में कहा—"क्या अपने छोटे भाई को दीक्षा दिलाने के लिए लाए हो?"

भवदत्त ने हंसी में ही उत्तर दिया—"हां"

भवदेव ने बड़े भाई की "हां" को "ना" करना उनका अपमान समझा। उसने उसी समय हां को सत्य सिद्ध कर दिया। वह वापस न लौटा!

उद्धार

"यक्षराज ! क्या इसीलिए मैंने इतने दिन तुम्हारी सेवा की थी ? मुझ पर अत्याचार हो रहा है और तुम बैठे-बैठे देख रहे हो ?" अर्जुन ने क्रोध और दीनता भरे शब्दों में कहा।

राजगृही नगर के बाहर एक सुन्दर उद्यान था। फूलों और फलों से लदा हुआ। पक्षियों के कलरव से गुंजरित प्राकृत सुषमा का भण्डार। नगर के छैल-छबीले वहां आते, आनन्द मनाते और चले जाते। अर्जुन इसी उद्यान का माली था। वहीं रहता था।

उद्यान में एक मन्दिर था। उसमें मुद्गरपाणि यक्ष की मूर्ति थी। वही मन्दिर का देवता था। अर्जुन उसे अपना उपास्यदेव मानता था। नित्य नवविकसित सुमनों से उसकी अर्चना करता। प्रत्येक ऋतु के नए फल उसके चरणों में चढ़ाता और नित्य प्रति उसका वन्दन एवं पूजन करता।

नगर में ललिता नाम की गोष्ठी थी। बहुत से विलासी युवक उसके सदस्य थे। भोग-विलास और दुराचार उनका नित्यकर्म था। युवक तथा युवतियों में भ्रष्टाचार का प्रसार ही उनका ध्येय था।

एक दिन ललिता गोष्ठी के छह सदस्य उस उद्यान में पहुंचे। उन्होंने यक्षायतन में डेरा जमाया और सैर सपाटे में लग गए। अर्जुन की स्त्री बन्धुमती बहुत सुन्दर थी। गोष्ठी के सदस्यों ने उसे देखा और पकड़ लिया। अर्जुन ने विरोध किया तो उसे बांध कर डाल दिया। इसके बाद वे सभी बन्धुमती के साथ अभद्र व्यवहार करने लगे।

अर्जुन इस दृश्य को नहीं देख सका। उसकी आंखों में खून उतर आया। किन्तु विवश था। अन्त में उसे अपने देवता पर क्रोध आया। विपत्ति में सहायता प्राप्त करने के लिए ही देवता की सेवा की जाती है। जो देवता अपने भक्त को नष्ट होता हुआ देखकर भी चुप बैठा रहे। वह किस काम का ?

अर्जुन ने यक्ष को लक्ष्य करके कहा—"यक्षराज ! क्या मैंने इतने दिन तुम्हारी सेवा इसीलिए की थी ? मुझ पर अत्याचार हो रहा है और तुम बैठे-बैठे देख रहे हो। क्या तुम्हारे में इतना बल नहीं है कि इन दुराचारियों को दण्ड दे सको ? यदि यही बात है तो मैंने धोखा खाया है।"

भक्त की कातरता पर यक्ष पसीज गया। वह उसी समय अर्जुन के शरीर में प्रवेश कर गया। सभी बन्धन कच्चे धागे के समान टूट गए। यक्षाविष्ट अर्जुन ने वहीं पड़ा हुआ मुद्गर उठा लिया और गोष्ठी के छह सदस्यों तथा बन्धुमती को मार डाला। इसके बाद वह छह पुरुष और एक स्त्री को प्रतिदिन मारने लगा।

नगरी में ढिंढोरा पिट गया—"हत्यारा अर्जुन, स्त्री और पुरुषों को जान से मार रहा है, कोई बाहर न निकले।"



छह महीने बाद श्रमण भगवान महावीर विचरते हुए वहां पधारे। नगरी के बाहर गुण-शील चैत्य में ठहर गए। लोगों को पता चला। दर्शनों की इच्छा होने पर भी अर्जुन के डर से कोई बाहर न निकलता था।

सुदर्शन सेठ शास्त्रों का जानकार था, इतना ही नहीं वह उन उपदेशों को अपने जीवन में उतार चुका था। उसने मन में सोचा 'आत्मा अमर है। इसे अर्जुन क्या, कोई भी नहीं मार सकता। शरीर नश्वर है। वह तो नष्ट होगा ही। इसे बचाने के लिए किसी शुभ कार्य से रुकना उचित नहीं है। नगरी से बाहर भगवान महावीर पधारे हैं। उनके दर्शन करके आत्मा का उद्धार करना मेरा कर्तव्य है। इस नश्वर शरीर के लिए उस शुभ कर्तव्य से विमुख होना उचित नहीं है। यदि दर्शन हो गए तो जीवन सफल हो जाएगा। यदि अर्जुन या किसी दूसरे कारण से बीच में ही प्राण निकल गए तो भी सद्गति ही होगी। निष्कर्म बैठे रहने से तो वह ही अच्छा है।'

उसने भगवान के दर्शनार्थ जाने का निश्चय कर लिया। सगे-सम्बन्धी तथा मित्रों ने बहुत रोका किन्तु वह अपने संकल्प पर दृढ़ था।

नगरी के द्वार से बाहर निकलते ही अर्जुन सामने आ गया। किन्तु सुदर्शन भयभीत न हुआ न उसके हृदय में प्रतिहिंसा की भावना उत्पन्न हुई। वह ऐसे महापुरुष के दर्शन करने जा रहा था, जिसने अपने जीवन तथा उपदेशों द्वारा प्राणिमात्र से मित्रता रखने का पाठ पढ़ाया। भला वह एक मनुष्य को अपना शत्रु कैसे मानता। वह अपने प्राणों का उत्सर्ग करने के लिए तैयार हो गया। प्राण रक्षा का भी प्रयत्न नहीं किया। वह अन्त तक अर्जुन को अपना मित्र मानता रहा।

अर्जुन ने पास आते ही मुद्गर उठाया किन्तु वह नीचे न आ सका। अहिंसा के सामने राक्षसी वृत्ति पराजित हो गई। यक्ष देवता कूच कर गए।

उसी समय अर्जुन अशक्त होकर गिर पड़ा। सुदर्शन ने उसे उठाया और सांत्वना दी। अर्जुन को अपने किए पर पश्चाताप होने लगा। वह अपने को पतित मानने लगा।

सुदर्शन ने कहा—"पतितों के उद्धारक श्रमण भगवान महावीर यहां पधारे हैं। वह तुम्हारा भी उद्धार करेंगे। चलो, मेरे साथ चलो।"

अर्जुन भोले बालक के समान सेठजी के साथ हो लिया। भगवान के दर्शन किए। व्याख्यान सुना। उसी समय उसने मुनिव्रत अंगीकार कर लिया।

अर्जुन मुनि अपने पापों का प्रायश्चित करने के लिए उग्र तपस्या करने लगे। दो दिन उपवास रखते और तीसरे दिन एक बार भोजन करते।

जब वह भिक्षा के लिए जाते तो लोग उन्हें द्वेषभरी नजर से देखते। कोई उन्हें गालियां देता, कोई थप्पड़ मारता और कोई लाठी से पीटता। कोई उसे अपनी बहन का हत्यारा बताता, कोई भाई का, कोई पिता का, कोई माता का, कोई पुत्र और कोई मित्र का।

किन्तु अर्जुन मुनि मन में किसी प्रकार का रोष लाए बिना सब कुछ सहते। कभी रोटी मिलती तो पानी न मिलता। कभी पानी मिलता तो रोटी न मिलती। कभी कुछ न मिलता। अपमान, ताड़ना तथा दूसरी यातनाएं तो प्रतिदिन मिलती। फिर भी वह शान्त रहे। मन में किसी प्रकार का कालुष्य न आने दिया।

छह महीने की कठोर साधना द्वारा अर्जुन मुनि की आत्मा निर्मल हो गई। उनके सभी पाप धुल गए। सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बनकर उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया।

सन्त के शब्द

"किसी साधु का उपदेश मत सुनना। उनके शब्दों को कभी कान में मत पड़ने देना। मेरी यह अन्तिम शिक्षा है। बेटा! इसे मत भूलना।" लोहक्षुर ने अपने पुत्र रौहिणेय से मरते समय कहा।

राजगृह के पास वैभारगिरि में एक डाकू रहता था। धन तथा स्त्रियों का अपहरण करना ही उसका व्यवसाय था। नगर के लोग उसके भय से कांपते थे। नाम था. लोहक्षुर। उसका पुत्र रौहिणेय भी प्रसिद्ध डाकू बन गया था। पिता की सारी विद्याएं सीख गया था, प्रत्येक बात में दो कदम आगे था। मरते समय पिता ने उसे उपरोक्त शिक्षा दी। रौहिणेय ने उसे गांठ बांध लिया। एक बार वह राजगृह की ओर जा रहा था। मार्ग में भगवान महावीर उपदेश दे रहे थे। उसने कानों में अंगुलियां लगा लीं और वेग के साथ चलना शुरू किया।

जब वह समवसरण के ठीक सामने पहुंचा तो पैर में कांटा लग गया। उसे निकालने के लिए नीचे झुका तो भगवान के मुख से निकले हुए ये शब्द अचानक उसके कानों में पड़ गए--



"देवों के पैर पृथ्वी को नहीं छूते। उनकी पलकें नहीं झपकतीं। पुष्पमालाएं नहीं मुरझातीं। शरीर पर पसीना नहीं आता।"

रौहिणेय नहीं सुनना चाहता था किन्तु इतने शब्द तो कानों में पड़ ही गए ।

राजगृह में प्रतिदिन चोरियां होने लगीं । आज किसी सेठ के घर डाका पड़ता तो कल दूसरे के घर । प्रजा ने एकत्रित होकर राजा से पुकार की । राजा श्रेणिक ने अधिकारियों को धमकाया, किन्तु वे भी लाचार थे । चोरी के नित्य नये ढंग निकलते । उन्हें पता भी न लगता कि चोर कहां से आया, कहां से भाग गया ।

अन्त में प्रधानमंत्री अभयकुमार ने चोर पकड़ने का कार्य अपने ऊपर लिया । उसने गुप्त रूप से नगर के सभी द्वारों पर सशस्त्र सैनिकों को तैनात कर दिया । सभी को यह आज्ञा थी कि जो भी अपरिचित व्यक्ति नगर से बाहर निकलता दिखाई दे, उसे पकड़ लो ।

रौहिणेय चोरी का माल नगर में ही छिपा देता था । बात ठण्डी पड़ने पर धीरे-धीरे अपनी गुफा में ले जाता । जब वह प्रातःकाल निकलने लगा तो खाली हाथ था, फिर भी सैनिकों ने पकड़ लिया ।

वह अभयकुमार के पास लाया गया । किन्तु जब तक चोरी न पकड़ी जाए और यह सिद्ध न हो जाए कि वही चोर है, तब तक दण्ड देना अन्याय है । अभयकुमार ने उससे पूछताछ की । उसने बताया—"मेरा नाम दुर्गचण्ड है । शालिग्राम में रहता हूं । खेती-बाड़ी करके अपना जीवन निर्वाह करता हूं ।"

अभयकुमार ने गांव में गुप्त रूप से जांच पड़ताल करवाई । बात ठीक निकली । दुर्गचण्ड नाम का एक किसान शालिग्राम में रहता था, उस दिन वह बाहर गया हुआ था । रौहिणेय ने समझ-बूझकर उसका नाम लिया था । उसने सभी बातों का उपाय पहले से कर रखा था ।

अभयकुमार को एक बात और सूझी । उसने रौहिणेय को खाने के लिए ऐसी वस्तुएं दीं जिसे खाते ही वह बेहोश हो गया । बेहोशी की दशा में उसे एक सजे हुए कमरे में पहुंचा दिया गया । चारों ओर गीत, वाद्य और नृत्य की व्यवस्था थी । सोलह श्रृंगार से सजी हुई सुंदरियां हाथ बांधे खड़ी थीं ।

रौहिणेय की मूर्च्छा टूटी । वह होश में आया । आंखें खोलीं । कमरे की सज-धज तथा सुंदरियों को देखकर वह आश्चर्य में पड़ गया । सुंदरियों ने निवेदन किया—

"प्राणनाथ ! हमारा अहोभाग्य है कि श्रीमान ने मृत्युलोक को छोड़ कर स्वर्ग में पदार्पण किया । हमें आपकी बहुत दिनों से प्रतीक्षा थी । इस दिव्य सम्पत्ति और ऐश्वर्य के आप स्वामी हैं । ये सभी भोग-विलास आपके लिए हैं । हम आपकी दासियां हैं । आपकी आज्ञा को अपना अहोभाग्य मानती हैं । आप अपनी इच्छानुसार स्वर्ग का आनंद लीजिए ।"

इतने में संगीत और नृत्य प्रारम्भ हुए । रौहिणेय को ऐसा प्रतीत होने लगा जैसे वह सच-मुच स्वर्ग में पहुंच गया हो । संगीत की मादकता में रौहिणेय अपने को भूल गया ।

थोड़ी देर बाद हाथ में रत्नमण्डित सुवर्णयष्टि लिए हुए तथा सुंदर वस्त्राभूषणों से विभू-षित एक युवक आया । उसके मुख पर तेज था । गति में गम्भीरता थी । उसका संकेत मिलते ही नृत्य और गीत बंद हो गए । चारों ओर स्तब्धता छा गई ।

युवक ने रौहिणेय के सम्मुख आकर उसका अभिवादन किया और शालीनता से कहा—

"महानुभाव ! आपका स्वागत है। हम स्वर्गवासी आपका हृदय से अभिनंदन करते हैं। इस लोक का यह नियम है कि प्रत्येक नवागन्तुक अपने पूर्व जन्म से सुकृत और दुष्कृतों का यथार्थ वर्णन करता है। शुद्ध हृदय से अपना सम्पूर्ण वृत्त सुना देने के पश्चात ही वह स्वर्ग में निवास का अधिकारी बनता है। साधर्म देवलोक के स्वामी सुधर्मेन्द्र की आज्ञा से मैं यहां आया हूं। आपसे प्रार्थना है कि आप सारा इतिवृत्त सुनाने की कृपा करें।"

रौहिणेय वहां के ऐश्वर्य और भोग-विलासों को देखकर चकित रह गया। वहीं निवास करने की लालसा जागृत हो उठी। भला इस सुख को छोड़कर मृत्यु लोक में जाना कौन पसंद करेगा ? उसने अपना सारा वृत्तांत सुनाने का निश्चय कर लिया।

इतने में उसे भगवान महावीर के शब्द याद आए—"देवों के पैर पृथ्वी को नहीं छूते।" ये सभी तो पृथ्वी पर चल रहे हैं।

"उनकी पलकें नहीं झपकतीं।" इन सुंदरियों में तो यह बात नहीं है। इनकी मालाओं के पुष्प भी कुछ मलीन हो गए हैं। नर्तकियों को पसीना भी आ रहा है।

उसे ख्याल आया—"कहीं यह धोखा तो नहीं है।" ज्यों-ज्यों विचार किया अभयकुमार का जाल स्पष्ट होता गया। रौहिणेय ने पूर्वजन्म के वृत्तांत को इस प्रकार सुनाया– जैसे वह कोई बहुत भला आदमी रहा हो। उसने अपना नाम वही दुर्गचण्ड बताया और खेती को अपनी आजीविका।

अभयकुमार का रचा जाल निष्फल गया। चोरी न प्रमाणित होने के कारण रौहिणेय को छोड़ दिया गया। उसके मन में आया–"अनिच्छापूर्वक सुने गए महावीर के कुछ शब्दों ने मुझे मृत्यु से बचा लिया। यदि मैं उनका पूरा व्याख्यान सुन लेता तो कितना लाभ होता। वह उसी समय भगवान महावीर की शरण में पहुंचा। व्याख्यान सुना। शुद्ध हृदय से अपनी सारी कहानी सुनाई। श्रेणिक राजा भी वहां बैठे थे। उसने रौहिणेय के सारे अपराध क्षमा कर दिए। रौहिणेय की आत्मा पवित्र हो गई।

वैरागी

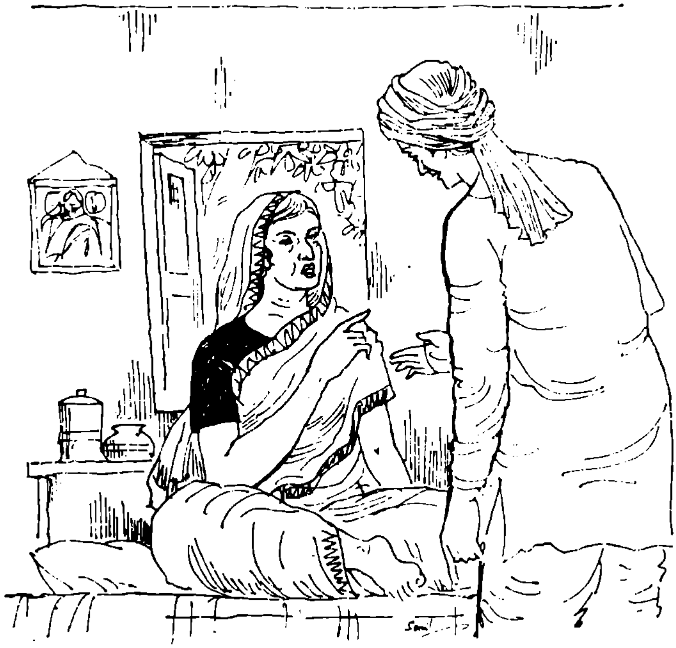
"बेटा ! मुझे कम दिखाई देता है किन्तु तुम तो देख रहे थे। खिचड़ी के बदले भैंस का बांटा खा गए।" मां ने आंखों में आंसू भर कर कहा।

"मां ! जो पदार्थ भैंस नित्य खाती है, क्या मैं उसे एक बार भी नहीं खा सकता ? फिर उसमें तो घी था। मुझे वह बेस्वाद नहीं लगा।" पुत्र ने उत्तर दिया।

उत्तर देने वाले थे सेठ फकीरचन्द जी। जोधपुर राज्य में तींवरी नामका गांव है, सेठ जी वहीं रहते थे। मध्यप्रांत में अच्छा कारोबार था, लाखों की सम्पत्ति थी। हजारों का लेन-देन था।

सब तरह से सम्पन्न एवं समृद्ध होने पर भी सेठजी धर्म की ओर विशेष झुके हुए थे। दिन-रात धार्मिक पुस्तकों के अध्ययन में लगे रहते। कारोबार मुनीमों पर छोड़ रखा था। संतसमागम तथा शास्त्रों के पढ़ने में ही सारा समय बीतता। धर्मरुचि उत्तरोत्तर बढ़ती गई। संसार के भोग नीरस प्रतीत होने लगे। दुनियादारी जंजाल दीखने लगी। मन में दीक्षा लेने की भावना जाग उठी।

एक दिन उन्होंने अपनी अभिलाषा मां के सामने प्रकट की। भला ममता से भरी हुई माता



कैसे अनुमति दे सकती थी। टालने के लिए इतना कह दिया—"तुम्हारे चले जाने पर छोटे-बच्चों की देख-रेख कौन करेगा ? जब ये बड़े हो जाएंगे तब देखा जाएगा।"

सेठजी माता की आज्ञा का पालन करना अपना धर्म मानते थे। वह दीक्षा लेने से तो रुक गए किन्तु मन की प्रवृति को न रोक सके। उसी प्रकार विरक्त रहते हुए सारा समय धार्मिक क्रियाओं में बिताने लगे।

माता ने सोचा यदि इन्हें कारोबार में लगा दिया जाए तो सम्भव है मन बदल जाए। गांव में कोई काम-धंधा नहीं है, इसीलिए मन उचटा रहता है।

उसने सेठजी से कहा—"बेटा! कुछ दिन शहर में रहकर अपना कारोबार ही देख आओ। सारा काम मुनीमों के भरोसे छोड़कर निश्चित नहीं हो जाना चाहिए।"

माता की आज्ञा पाते ही सेठजी ने प्रस्थान कर दिया। मध्यप्रांत में अपनी दुकान पर पहुंच गए। नौकरों में धूम मच गई--सेठजी आए, सेठजी आए। मुनीमों ने अपना सारा हिसाब तथा बहीखाता ठीक किया। उन्हें डर था कि कहीं सेठजी देखने न लग जाएं।

किन्तु सेठजी दूसरे ही बहीखाते में लीन थे। वह दिन-रात आत्मचिंतन में लीन रहते।

नौकर पूछते—"सरकार! भोजन क्या बनेगा?" सेठजी कोई उत्तर न देते। बहुत पूछने पर कह देते—"जो बनेगा, खा लूंगा।" थाली में कई प्रकार के स्वादिष्ट पदार्थ परोसे जाते किन्तु उनके लिए सब समान थे। जो हाथ में आता उसे ही खा लेते। स्वादिष्ट वस्तुएं रखी रह जातीं और नीरस खा ली जातीं।

जो व्यक्ति आत्मविकास के महामार्ग पर चल पड़ता है वह सांसारिक भोगों से विचलित नहीं होता। आत्मानन्द के सामने वे सभी फीके मालूम पड़ते हैं। वास्तव में देखा जाए तो कष्ट और विघ्न-बाधाएं उस लम्बे मार्ग के कांटे हैं तथा भौतिक सुख विश्राम स्थल हैं। जो पथिक अपने लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है, उसे न तो कांटों से डरकर मार्ग छोड़ना चाहिए और न किसी वृक्ष की ठंडी छाया को देखकर अपनी यात्रा को भूल जाना चाहिए। लक्ष्य चलने से ही प्राप्त होगा। मार्ग में विश्रान्ति के लिए जितना समय लगाया जाएगा, उतना ही लक्ष्य दूर हो जाएगा। सेठजी अपनी यात्रा में सतत जागरूक थे। वह अपनी ही मस्ती में चले जा रहे थे। दुनियादार जहां पाई-पाई का लेखा करते हैं उस ओर उन्होंने आंखें बंद कर रखी थीं। वह उन वस्तुओं को तुच्छ समझते थे। वस्तु का मूल्य व्यक्ति की भावना पर निर्भर है। मानो तो सब कुछ है, न मानो तो कुछ भी नहीं।

मुनीम बहीखाता दिखाते। सेठजी कहते-सुनते रहते, किन्तु ध्यान दूसरी ओर ही लगा रहता, सुनाओ तो ठीक, न सुनाओ तो ठीक। उनकी किसी और रुचि थी तो वह थी धार्मिक क्रियाएं। भोजन तथा दूसरी बातों में लापरवाही होने से उनका स्वास्थ्य गिरने लगा। माता को मालूम पड़ा तो उसने उन्हें फिर बुला लिया।

हमारी प्राचीन सामाजिक व्यवस्था में धनवान और दरिद्र तो थे किन्तु रहन-सहन प्रायः सभी का एक-सा था। दोनों हाथ से काम करते थे, एक सरीखा खाते और एक सरीखे मोटे वस्त्र पहनते थे। उस समय आर्थिक वैषम्य विशेष महत्व न रखता था। यही कारण है कि उन दिनों मजदूर और पूंजीपति के रूप में दो वर्ग नहीं बने थे। किसी को एक-दूसरे के प्रति जलन न थी। सभी परिश्रम करते थे, सभी सुखी थे।

रसोई बनाना, पानी भरना, चक्की पीसना, चौका-बर्तन तथा घर की सफाई स्त्रियों के मुख्य कार्य थे। उनमें भी धनवान और दरिद्र का कोई प्रश्न न था। चक्की पीसना और पानी भरना उनके लिए आनंद का साधन था। कुएं या जलाशय पर तो प्रतिदिन दोनों समय उनका सम्मेलन-सा होता था। सभी घरों की स्त्रियां वहां इकट्ठी होतीं और प्रेम-सम्बन्ध स्थापित करतीं। फकीरचन्द की पत्नी भी प्रतिदिन दोनों समय कुएं पर पानी लेने जाया करती थीं।

मारवाड़ में सायंकाल का मुख्य भोजन है खिचड़ी। एक दिन सेठानी जी खिचड़ी उतार कर पानी लेने चली गईं। पास ही भैंस के लिए बांटा रखा हुआ था। सेठजी भोजन करने आए। वृद्धा मां भोजन परोसने लगीं। कम दिखाई देने के कारण खिचड़ी के स्थान पर बांटा परोस दिया। सेठजी खाकर चले गए।

सेठानी ने आकर देखा—खिचड़ी ज्यों-की-त्यों पड़ी है। पूछने पर सारी बात मालूम पड़ गई। दूसरे दिन सेठ जी का उपवास था। वह-दिन रात उपाश्रय में ही रहे। तीसरे दिन घर आए तो मां ने कहा—

"बेटा ! बुढ़ापे के कारण मुझे कम दिखाई देता है तो क्या हुआ ! तुम्हें तो दीखता था, खिचड़ी के बदले बांटा खा गए।"

"मां ! जो वस्तु भैंस नित्य खाती है, क्या मैं उसे एक दिन भी नहीं खा सकता ? फिर उसमें तो तुमने घी डाला था। मुझे तो वह बेस्वाद नहीं लगा।"

मां का हृदय धक्-सा रह गया। वह नहीं जानती थी कि उसका पुत्र इस दशा तक पहुंच गया है। वह समझ गई कि इसे आत्मविकास से रोकना, इस पर अत्याचार करना है।

दो पापी

मगध सम्राट महाराज श्रेणिक का दरबार भरा हुआ था। अत्यन्त प्रतिभाशाली राजकुमार अभयकुमार प्रधानमन्त्री के आसन पर विराजमान थे। बड़े-बड़े सामन्त तथा दरबारी अपने-अपने स्थान पर बैठे थे। प्रजा सम्बन्धी बातें होने लगीं। उसी सिलसिले में श्रेणिक ने पूछा—"अभयकुमार! क्या तुम यह बता सकते हो कि राजगृह में धर्मात्मा कितने हैं और पापी कितने हैं?" अभयकुमार ने उत्तर दिया—"महाराज! इसमें कौन-सी बड़ी बात है?"

दूसरे दिन राजगृह में यह घोषणा हो गई—"महाराज श्रेणिक यह जानना चाहते हैं कि उनके नगर में धर्मात्मा कितने हैं और पापी कितने हैं?" इसके लिए नगर के बाहर उद्यान में दो घेरे बनाए गए हैं। जो पापी हों, वे काले घेरे में चले जाएं और जो धर्मात्मा हों वे सफेद घेरे में।



श्रेणिक की आज्ञा को कौन टाल सकता था? सभी नगरवासी घेरों में पहुंच गए। अभयकुमार ने देखा-सफेद घेरा खचाखच भरा हुआ है और काले घेरे में केवल दो व्यक्ति हैं। छानबीन शुरू हुई।

सफेद घेरे में घुसते ही एक वेश्या मिली। अभयकुमार ने पूछा—"देवी, तुम क्या करती हो? अपने को धर्मात्मा सिद्ध करने के लिए तुम्हारे पास क्या आधार है?"

वेश्या ने उत्तर दिया—"मन्त्रिवर ! मैं एक वेश्या हूं। लोग अन्न और पानी देने वालों को तो धर्मात्मा कहते हैं और मुझे पापी। पता नहीं यह भेद-भाव क्यों किया जाता है ? मेरी दृष्टि में यह सर्वथा अन्याय है। हमारे ही कारण आपके द्वारा बनाई गई सारी मर्यादाएं टिकी हुई हैं। सतीत्व या पतिव्रत नाम की जिस मर्यादा को आप लोग महत्व देते हैं वह हमसे ही टिकी हुई हैं। हम अपने ऊपर लांछन सहन कर के भी दूसरों के धर्म की रक्षा करती हैं। हम स्वयं कलंकित हो कर भी दूसरों को निष्कलंक रखती हैं। स्वयं विष पीकर दूसरों को अमृत बांटती हैं। समाज हमें घृणित कहता है, पतित कहता है, नीच कहता है। शास्त्रों की मान्यताएं भी हमारे विरुद्ध हैं। समाज हमें अपना अनावश्यक अंग मानता है और कोसता भी है। मन्त्रिराज समाज की सारी भर्त्सनाएं सहकर भी हम अपने धर्म पर स्थिर हैं।"

अभयकुमार आगे बढ़ा एक जुआरी सामने आया। उससे भी वही प्रश्न पूछा गया।

जुआरी बोला—"राजकुमार ! मैं एक जुआरी हूं। मेरा धन्धा सर्वथा निर्दोष तथा अहिंसापूर्ण है। मैं न किसी को मारता हूं, न पीटता हूं, न अन्य प्रकार का कष्ट देता हूं। मुझे अपने धन्धे में किसी जीव पर हिंसा नहीं करनी पड़ती। हमारा धन के साथ कोई मोह नहीं होता। हजारों रुपये खेल-खेल में दे डालते हैं। दुनिया हमें बुरा कहती है, कहे किन्तु हमें अपना धन्धा सर्वथा निर्दोष प्रतीत होता है।"

आगे बढ़ने पर शराबी मिला। उसने बताया—"मेरे पिता बहुत बड़े व्यापारी थे। मेरे लिए लाखों की सम्पत्ति छोड़ गए हैं। इसलिए अब कमाने की आवश्यकता नहीं है। मैंने सन्तोष धारण कर रखा है। धन के लिए मारामारी नहीं करना चाहता। जो सम्पत्ति उन्होंने संचित की थी उसे खर्च करना मेरा काम है। आप जानते हैं, सम्पत्ति का संचय करना और संचय रखना दोनों पाप हैं। मैं अब उस पाप का परिमार्जन कर रहा हूं। आर्थिक दृष्टि से भी रुपया घूमता ही रहना चाहिए। उसका कहीं अटके रहना देश की आर्थिक उन्नति में बाधक है। मुझे इस बात का पूरा ध्यान है।

"मन्त्रिवर ! जब मैं शराब पी लेता हूं तो अपना सारा सुख तथा दुख भूल जाता हूं। मुझे न किसी से राग रहता है, न द्वेष। शत्रु और मित्र बराबर हो जाते हैं। शराब पी लेने पर मनुष्य अपने संकुचित वातावरण को भूल जाता है। स्वार्थपूर्ति को छोड़ देता है। उस समय वह द्वन्द्वातीत अवस्था को पहुंच जाता है। राजकुमार क्या यह अधर्म है ? क्या यह पाप है ?"

आगे बढ़े। एक शिकारी मिला। अभयकुमार ने पूछा—"तुम पशुओं को मारते हो फिर भी इस घेरे में क्यों आए?"

"आमात्यवर ! कौन किसको मारता है और कौन किसको उत्पन्न करता है।" शिकारी ने दार्शनिक बनते हुए कहा।

"सभी जीव अपने-अपने किए हुए कर्मों के अनुसार भटक रहे हैं। अपना आयुष्य पूरा हुए बिना कोई नहीं मरता। मैं तो केवल निमित्त बना दिया जाता हूं।

"सिंह, व्याघ्र आदि हिंस्र पशु मार्ग में चलते हुए मनुष्यों को मार डालते हैं।

"राजकुमार ! खाना-पीना, उठना-बैठना, चलना-फिरना आदि हमारी प्रत्येक क्रिया में

जीव-हिंसा तो होती ही रहती है। यदि थोड़ी-सी हिंसा से अधिक लोगों की भलाई हो तो वह पाप नहीं है।"

शिकारी का उत्तर सुनकर अभयकुमार और आगे बढ़े। उसे कई और लम्पट मिले। चोर मिले, धूर्त मिले, लुटेरे मिले। सभी ने अपनी-अपनी सफाई पेश की। अभयकुमार सबकी बात सुनता हुआ, आगे बढ़ता गया।

सफेद घेरे का चक्कर पूरा करके वह काले घेरे में पहुंचा। वहां केवल दो व्यक्ति थे। एक अधेड़ था, दूसरा युवक। दोनों नगर के प्रतिष्ठित धनवान थे। उदारता, ईमानदारी तथा सच्चाई आदि के गुणों के लिए दूर-दूर तक प्रसिद्ध थे। उन्हें काले घेरे में देखकर अभयकुमार को आश्चर्य हुआ। उसने युवक की ओर लक्ष्य करके पूछा—

"भद्रपुरुष ! आप इस काले घेरे में क्यों खड़े हैं। आपने कौन-सा पाप किया है ?"

युवक ने कहना प्रारम्भ किया—"मन्त्रिराज ! मेरे पिता इसी नगर के महासम्पन्न व्यक्ति थे। घर में सब प्रकार का सुख था। एक बार हमारा बड़ा जहाज विक्रय वस्तुएं भरकर विदेश के लिए रवाना हुआ। उसमें हीरे, माणिक्य आदि बहुमूल्य वस्तुएं थी। हमारे अतिरिक्त नगर के बड़े-बड़े व्यापारियों का माल लदा हुआ था। रास्ते में तूफान आया और जहाज एक चट्टान से टकराकर डूब गया। उसमें जिन व्यापारियों का माल था, मेरे पिता ने सबका पैसा-पैसा चुका दिया। उन्हीं दिनों इस प्रकार की दो घटनाएं और हो गईं। हमारे पास कुछ न बचा। मानसिक आघात और अधिक परिश्रम के कारण पिता जी बीमार पड़ गए और फिर न उठे।

"घर में मेरी माता थी, मैं था और दो बहनें थीं। वे विवाह योग्य हो गई थी। इधर हमारा निर्वाह भी कठिनाई से हो रहा था।

"एक दिन मेरी माता ने कहा—"बेटा ! इस प्रकार कैसे काम चलेगा ? गुजारा तो करना ही होगा। मैं एक उपाय बताती हूं। सेठ जिनदास उपाश्रय में प्रतिदिन सामायिक करते हैं। उस समय वह अपना मोतियों का हार उतारकर रख देते हैं। तुम जाओ और उसे उठा लाओ।"

"मैं सुनकर चकित रह गया। लाखों की सम्पत्ति जिनके चरणों में लौटती थी उस माता के मुंह से ये शब्द ! अभाव किस प्रकार नैतिक पतन का कारण बन जाता है, उसका यह ज्वलंत उदाहरण था। चोरी और धर्म के स्थान में ! मुझे चुप देखकर मां ने फिर वही बात दोहराई। यहां तक कह दिया—यदि तुम यह कार्य न करोगे तो मैं अनशन करके मर जाऊंगी।

"मुझे तैयार होना पड़ा। उपाश्रय में पहुंचा। सेठजी सामायिक में बैठे थे। पास ही हार पड़ा था। मैं हिचकिचाया, किन्तु मां की बात याद आते ही फिर आगे बढ़ा। मेरे सभी अंग कांप रहे थे, सुध-बुध खो बैठा था। किन्तु एक अज्ञात प्रेरणा मुझे उस बुराई की ओर बढ़ाए ले जा रही थी।

"मैंने हार उठा लिया। वह कुछ न बोले। मैं घर चला आया और मां के सामने हार रख दिया।

"मां ने फिर कहा—"इसे उन्हीं सेठजी के पास गिरवी रखकर दस हजार रुपए उधार ले आओ।"

"मैं उलझन में पड़ गया। उनके देखते हुए चोरी की। अब उसी चोरी की हुई वस्तु को, जो उन्हीं की है, गिरवी रखकर उधार लेने जाऊं। यह भी कोई बात है ? वह क्यों देने लगे ? हार रख लेंगे और मुझे पुलिस के हवाले कर देंगे। यदि दयालु हुए तो धक्के देकर निकाल देंगे। हार भी जाएगा और चोर के रूप में प्रसिद्ध भी हो जाऊंगा।

"किन्तु मां न मानी। मुझे जाना पड़ा। सेठजी के यहां पहुंचा तो उन्होंने बिना कुछ पूछे दस हजार रुपये दे दिए।"

"मेरी आत्मा पर चोट सी लगी। यदि वह मुझे पकड़वा देते या धक्के देकर निकाल देते, तो मैं समझता कि मेरे पाप का प्रायश्चित हो गया। उनकी सहानुभूति से वह पाप मेरी, अन्तरात्मा के सामने प्रचण्ड रूप में चमकने लगा। मैं भारी पैरों के साथ रुपये लेकर घर चला आया।

"हमने व्यापार किया। भाग्य ने पलटा खाया। अब अवस्था सुधर गई है। सेठ जी के रुपये लौटा दिए हैं। हार भी इन्हीं के पास है। फिर भी कुमार ! मेरे मन में रह-रहकर पश्चाताप हो रहा है। क्या हार उठाकर मैंने पाप नहीं किया ? मैं अपने को पापी मानता हूं और इसी-लिए इस घेरे में खड़ा हूं।"

उसके बाद सेठ जिनदास से पूछा गया। सेठजी ने कहा—"कुमार ! मैंने अपने जीवन में एक पाप किया है। उसका मुझे अभी तक पश्चाताप है। जब तक उसका प्रायश्चित न कर लूं, मैं अपने को पापी मानता रहूंगा।"

उसने युवक की ओर इशारा करते हुए कहा—"इसके पिता से मेरी गहरी मित्रता थी। जब उसका देहान्त हुआ, मैं इनकी आर्थिक परिस्थिति से पूर्ण परिचित था। मेरे मन में कई बार आया कि इनको सहायता पहुंचाऊं। किन्तु आज-कल करते-करते बात पुरानी पड़ गई और मुझे ख्याल न रहा। मेरी आंखें उस दिन खुलीं जिस दिन यह हार उठाकर ले गया। मेरे मन में आया इसकी चोरी के लिए मैं उत्तरदायी हूं। मेरा कर्तव्य था कि समय रहते इनकी सहायता करता और यह अवसर न आने देता। आमात्यवर ! शक्ति रहते हुए किसी की सहा-यता न करना क्या पाप नहीं है ? कोई बालक मेरा मकान गिरा रहा हो और हम नीचे खड़े देखते रहें, उसे मना न करें तो क्या यह पाप नहीं है ?

"राजकुमार ! एक सत्यनिष्ठ, धर्मपरायण मित्र के पुत्र को यदि मैं चाहता तो गड्ढे में गिरने से बचा सकता था। मैं आलस्य में पड़ा रहा। मैंने स्थिति की गम्भीरता का अनुभव नहीं किया। इसी कारण तो मुझसे यह पाप हो गया।"

अब मैं सुखी हूँ !

"राजन तुम स्वयं अनाथ हो, फिर नाथ कैसे हो सकते हो ?" मुनि ने सहज गम्भीरता के साथ मगध सम्राट से कहा।

राजगृह के बाहर एक उद्यान था। रंग-बिरंगे पुष्पों से सजा हुआ, विविध प्रकार के फलों से लदा हुआ, वृक्ष तथा लताओं से घिरा हुआ। उसी में मण्डितकुक्षि नाम का चैत्य था।

एक दिन मगधाधिपति महाराज श्रेणिक घूमते हुए उधर आ निकले। उद्यान के कोने में देखा—एक योगी पद्मासन लगाए बैठा है। दृष्टि नाक पर जमी है। शरीर के ऊपर का भाग सीधा तना हुआ है। न मन में हलचल है, न वचन में और न तन में। प्राणवायु भी डर-डर कर चल रही है। ललाट पर विचित्र तेज चमक रहा है। जैसे अन्दर ही अन्दर कोई दिव्य ज्योति प्रकट हुई हो। उसे न राजा के आने की खबर है न और किसी बात की।

योगी की आयु बीस वर्ष के लगभग होगी। शरीर सुन्दर तथा गौरवर्ण था। मुख पर तेज चमक रहा था। चारों ओर प्रभा-सी फैल रही थी।

राजा देखकर चकित रह गया—"यह शरीर और यह विरक्ति ! इस सौन्दर्य का निर्माण योग के लिए नहीं है। क्या यह शारीरिक सम्पत्ति व्यर्थ गंवा देने के लिए ?" उस अनुपम सौन्दर्य को योग साधना में लगा हुआ देख कर राजा के हृदय में चोट-सी लगी।

वह मुनि के पास बैठ गया। धीरे-धीरे समाधि का समय पूरा हुआ। मुनि ने ध्यान तोड़ा और राजा की तरफ देखा।

राजा ने नम्रता पूर्वक कहा—"मुनिराज ! यह भोग की अवस्था में योग कैसा ? योग तो वृद्धावस्था की चीज है। आपकी आयु तो भोग भोगने की है। योग के लिए तो इस शारीरिक सम्पत्ति की आवश्यकता नहीं थी। मुनिव्रत आपके लिए अस्वाभाविक-सा मालूम पड़ता है। इसे वृद्धावस्था के लिए छोड़ दीजिए। मेरे साथ आइए और जीवन का आनन्द लीजिए।"

मुनि ने करुणापूर्ण शब्दों में कहा—"राजन, मैं अनाथ हूं। संसार में मेरा कोई सहारा नहीं है। इसीलिए मैं धर्म की शरण में आया हूं।"

"क्या आप अनाथ हैं ?" राजा ने विस्मय के साथ कहा। "यदि आप अनाथ हैं तो मैं आप का नाथ बनता हूं। भला आप सरीखे तेजस्वी एवं सुन्दर युवक का आत्मीय कौन न बन सकेगा ? आप मेरे साथ चलिए। राजमहलों में रहिए। संसार में ऐसा कोई सुख नहीं, जो आपके लिए अप्राप्य रहेगा। सैकड़ों सेवक और सेविकाएं आपकी सेवा में उपस्थित रहेंगे, आपकी आज्ञा को वरदान मानेंगे।"

"राजन ! तुम स्वयं अनाथ हो, फिर मेरे नाथ कैसे बन सकते हो ?" योगी ने सहज गम्भीरता के साथ उत्तर दिया।

श्रेणिक, मुनि के संक्षिप्त उत्तर को सुनकर चकित रह गया। 'क्या यह साधु नहीं जानता कि मैं कौन हूं ? क्या यह मेरी शक्ति से अपरिचित है। शत्रु मेरे नाम से कांपते हैं। मेरे पास विशाल सेनाएं हैं। बड़े-बड़े योद्धा हैं। हाथी हैं, घोड़े हैं। अक्षय कोश हैं। प्रभुत्व है। मैं विस्तृत साम्राज्य का स्वामी हूं। कोई मेरी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता। यह साधु मुझे अनाथ क्यों कह रहा है ? मालूम पड़ता है, इसने मुझे पहचाना नहीं।'

उसने प्रकट रूप से पूछा—"मुनिराज ! सम्भवतया आप को यह ज्ञात नहीं कि मैं कौन हूं। मैं मगध का सम्राट श्रेणिक हूं। क्या आप मेरी शक्ति से परिचित नहीं है ?"



"पता है, मगध सम्राट ! मैं आप को भली प्रकार जानता हूं। किन्तु आप अपनी शक्ति की सीमा से स्वयं अपरिचित हैं। जिन वस्तुओं पर भरोसा करके आप गर्व कर रहे हैं वे संकट आने पर त्राण न दे सकेंगे। वह तो केवल मृगमरीचिका के समान है। भोले प्राणी उनके पीछे भागते-भागते अपना जीवन नष्ट कर लेते हैं।" यह कहकर मुनि ने अपना इतिवृत्त सुनाना प्रारम्भ किया।

"मैं कौशाम्बी का निवासी हूं। मेरे पिता वहां के बहुत बड़े सेठ थे। करोड़ों का व्यापार था। सैकड़ों नौकर-चाकर थे। मेरी पत्नी अत्यन्त सुन्दरी, आज्ञाकारिणी तथा मधुरभाषिणी थी। भोग-विलास के सभी साधन प्रस्तुत थे। माता-पिता, भाई-बहन आदि सभी आत्मीय मुझे हृदय से प्यार करते थे।

"एक दिन मेरी आंख दुखने लगी। औषधोपचार किया, किन्तु पीड़ा बढ़ती ही गई। मैं असह्य वेदना से छटपटाने लगा।

"पिता वैद्यों को बुलाने में लगे हुए थे। धन पानी के समान बहाया जा रहा था। वह

बार-बार कहते थे—"मेरे पुत्र की पीड़ा दूर कर दो, चाहे मेरी सारी सम्पत्ति ले लो।" दूर-दूर के अनुभवी चिकित्सक आए और चले गए, किन्तु पीड़ा कम न हुई।

"माता मेरे सिर पर हाथ रखे बैठी रहती। उसकी आंखों में आंसू थे और मुख पर विवशता। सारी मनौतियां मना लीं। सारे सिद्ध, फकीरों को बुलाया। जिसने जो कहा किया किन्तु पीड़ा ज्यों-की-त्यों बनी रही। असहाय होकर मेरे सिरहाने बैठी रहने के अतिरिक्त उसके पास कोई चारा न रहा।

"मेरी पत्नी मेरे चरणों में सिर रखकर आंसू बहाया करती। बहनें तथा भाई आर्द्रनयन होकर खड़े-खड़े देखते रहते। नौकर-चाकर दिन-रात दौड़ धूप करते। किन्तु कोई लाभ न हुआ।

"मेरे मन में आया—'मानव जीवन कितना असहाय है। मनुष्य अपने सुख के लिए ऊंचे-ऊंचे महल खड़े करता है। अनेक प्रकार के रिश्ते जोड़ता है। समझता है- यह मेरा पिता है, यह माता है, भाई हैं, बहनें हैं, पत्नी है। समय आने पर मेरे काम आएंगे। किन्तु वे खड़े रह जाते हैं और उनके स्नेह का केन्द्र तड़पता रहता है। कोई भी उसे दुख से उबारने में समर्थ नहीं हो पाता। न उसके दुख को कोई बांट सकता है। जिस पर आती है, उसी को भुगतना पड़ता है। धन-सम्पत्ति, नौकर-चाकर, सेना-सम्बन्धी आदि सभी व्यर्थ हो जाते हैं। कोई उसे सुखी नहीं कर सकता।'

"सोचते-सोचते ध्यान आया—'सुख का स्थान तो आत्मा है, बाह्य वस्तुएं नहीं हैं। वास्तविक सुख प्राप्त करने के लिए आत्मा में रमण करने की आवश्यकता है। मुझे बाह्य वस्तुओं से विमुख होकर आत्मतत्व की खोज में लगना चाहिए।'

"यह सोचते-सोचते मुझे नींद आ गई। पीड़ा भी कुछ कम प्रतीत होने लगी। प्रातःकाल उठा तो पीड़ा मिट चुकी थी, किन्तु रात की बात मैं न भूल सका।

"उसी दिन घर बार छोड़कर मैंने यह व्रत ले लिया—"राजन! अब मैं सुखी हूं।"

अनोखा मंत्र

महात्मा ने दासियों को टालने के लिए कागज का पुर्जा उठाया और जल्दी से कुछ घसीट दिया। दासियां उसे ही मंत्र समझ कर खुश होती हुई चली गईं।

मारवाड़ के ऐतिहासिक नगर मेड़ता में स्वामी लाभानन्दजी महाराज रहते थे। वह बहुत बड़े योगी थे। सदा अपने में मग्न रहते। न किसी से लाग, न लपेट। उनकी सिद्धि के विषय में लोग तरह-तरह की बातें किया करते। दूर-दूर तक चमत्कार की धूम मची हुई थी। किन्तु वस्तुस्थिति से बहुत थोड़े लोग परिचित थे।

सच्ची या झूठी किसी बात को सुनकर मान लेना जितना स्वाभाविक है, उतनी उसकी छानबीन नहीं। मान लेने में आनन्द आता है और छान-बीन शुरू करने में मन पर बोझ-सा लद जाता है। मानव हृदय सरलता चाहता है, विश्राम चाहता है। सुनी हुई बात में सन्देह करने पर मन उलझ जाता है. उसे सुलझाने में परिश्रम करना पड़ता है। विश्वास कर लेने से छुट्टी मिल जाती है। उधेड़-बुन नहीं रहती। एक बात और भी है। कोई नई बात दूसरे को सुनाने का आनन्द उसे ही प्राप्त हो सकता है जो विश्वास करना जानता है। इसीलिए उलझे मस्तिष्क के कुछ तार्किकों को छोड़कर लोग विश्वासशील होते हैं। कैसी भी बात हो। विश्वास करने वाले मिल ही जाएंगे और फिर उसे फैलते देर नहीं लगती।

स्वामी लाभानन्दजी के विषय में लोग कई तरह की बातें किया करते। कोई उनके वचन में सिद्धि बताता, कोई उन्हें मंत्रवादी कहता। किन्तु स्वामीजी को इनसे वास्ता न था। वह तो सच्चे योगी थे। आत्मचिन्तन में लीन रहते। चमत्कार को वह आत्मविकास में बाधक मानते थे। आत्मतत्व के समान वह भी जनता के लिए रहस्य बने हुए थे।

मेड़ता नरेश के दो रानियां थीं। राजा स्वाभाविक रूप से छोटी रानी को अधिक चाहता था। उसने बड़ी रानी के पास आना-जाना भी बन्द कर दिया।

बड़ी रानी श्रद्धालु थी। पति की उपेक्षा उसे खटकने लगी। राजा को आकृष्ट करने के लिए कई प्रयत्न किए किन्तु सफलता न मिली।

अन्त में रानी का ध्यान स्वामी लाभानन्द की ओर गया। उसने अपनी करुण कथा का वर्णन करते हुए एक पत्र लिखा और स्वामीजी से प्रार्थना की—"कोई ऐसा मंत्र दीजिए जिससे राजाजी मुझ पर प्रसन्न हो जाएं।"

दासियां पत्र लेकर स्वामीजी के पास पहुंचीं। उन्होंने रानी की ओर से मौखिक निवेदन भी किया और मंत्र देने के लिए अत्यन्त आग्रह किया।

स्वामीजी अपने आध्यात्मिक भजन लिख रहे थे। दासियों की प्रार्थना पर स्तब्ध से रह गए। उन्होंने बहुत कहा -"मैं मंत्र नहीं जानता।" किन्तु दासियां न मानीं। वे यही समझती

रहीं कि स्वामीजी टाल रहे। अन्त में उन्होंने टालने के लिए कुछ घसीट दिया। दासियां उसे ही मंत्र समझ कर खुश होती हुई चली गईं।



रानी ने मंत्र को पढ़ना अनुचित समझा। कागज को बिना खोले ही सीधा ताबीज में मढ़वा लिया और अपनी बांह पर बांध लिया।

उसी दिन अचानक राजाजी बड़ी रानी के महल में चले आए और स्नेहपूर्ण बातें करने लगे। रानी ने यह सब मंत्र का प्रभाव समझा। बातचीत के सिलसिले में उसने कहा—"यह मंत्र का ही प्रभाव है कि आज दासी पर इतनी कृपा हो रही है। नहीं तो महाराज़ कब पसीजने वाले थे?" राजा के पूछने पर रानी ने सारा हाल सुना दिया।

राजा को आश्चर्य हुआ। उसे यह आशा न थी कि लाभानन्द सरीखे आत्मनिष्ठ योगी औरतों को वशीकरण मंत्र भी देते हैं। वह लाभानन्दजी के पास गए। स्वामीजी ने साफ इन्कार कर दिया – "मैंने कोई मंत्र नहीं दिया।" अन्त में ताबीज मंगवा कर खोला गया। कागज पर लिखा हुआ था –"राजा बड़ी रानी पर खुश रहे तो लाभानन्द को क्या और नाराज रहे तो लाभानन्द को क्या?"

यही स्वामी लाभानन्दजी आगे जाकर महायोगी 'घनानन्द' के नाम से प्रसिद्ध हुए।

समाधि

माता देवकी के संतान तो कई हुईं; किन्तु वे सब कंस की क्रूरता का शिकार बन गईं। किसी ने भविष्यवाणी की थी कि कंस देवकी की संतान द्वारा मारा जाएगा। परिणाम स्वरूप उसने वसुदेव तथा देवकी को कारागार में डाल दिया। उनके जो संतान होती, पैदा होते ही मार डालता। आयुष्यबल तथा वसुदेवजी के प्रयत्न से श्रीकृष्ण किसी प्रकार बच गए। किन्तु उनका भी पालन-पोषण यशोदा ने किया। उनका सारा बचपन गोकुल में ही बीता। माता होने पर भी देवकी को मातृसुख प्राप्त नहीं हुआ। सन्तान को गोद में खिलाने की लालसा पूरी न हो सकी।

श्रीकृष्ण बड़े हुए। कंस को मारकर भूमण्डल के स्वामी बने। उनके तेज और प्रताप के सामने सभी भूपाल झुक गए। किन्तु देवकी का हृदय प्रफुल्लित न हुआ। उसके मन में वही लालसा रह-रहकर उठती और एक टीस-सी पैदा कर देती थी।

देवी-देवताओं की मनौती के बाद उन्हें फिर सन्तान का सुख मिला। वह अपनी गोद में पुत्र खिलाने लगी। राजमाता देवकी, वसुदेवजी तथा श्रीकृष्ण सभी का उस बालक पर अत्यन्त स्नेह था। बालक का शरीर भी बहुत कोमल और सुन्दर था। नाम रखा गया, गजसुकुमार। शुक्लपक्ष के चन्द्रमा के समान बालक बढ़ने लगा।



एक बार बाईसवें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ विचरते हुए द्वारिकानगरी में पधारे। राजा

और रंक, धनी और निर्धन, वृद्ध और बालक, स्त्री और पुरुष सभी दर्शनार्थ गए। श्रीकृष्ण भी गजसुकुमार के साथ भगवान के दर्शनार्थ रवाना हुए।

मार्ग में एक सुन्दर कन्या खेल रही थी। गजसुकुमार की दृष्टि उस पर जा पड़ी। कौन कह सकता है कि उसके मन में क्या विचार आया, किन्तु श्रीकृष्ण ने यही समझा कि गजसुकुमार इस कन्या की ओर आकृष्ट हो गया। उसी समय उसके पिता सोमिल ब्राह्मण को बुलाया और दोनों का सम्बंध पक्का कर लिया। ब्राह्मण ने अपना अहोभाग्य माना।

बादल सभी जगह एक-सा बरसता है किन्तु फल भिन्न-भिन्न होते हैं। वही स्वाति नक्षत्र के समय सीप में पड़कर मोती बन जाता है। द्राक्षावन में द्राक्षारस बन जाता है और आम्रवन में आमरस। ऊसर में बरसने पर वह बेकार चला जाता है और उपजाऊ भूमि में विविध फूल और फलों का रूप धारण कर लेता है। भूमि और बीज के सम्बंध में उसकी विविध प्रकार की परिणतियां होती रहती हैं।

महात्माओं का उपदेश भी पात्रविशेष के अनुसार असर करता है। जन्म जन्मान्तर की साधना के द्वारा जिसकी आत्मा निर्मल होती है उस पर बहुत अधिक असर करता है, दूसरों पर कम और अभव्य पर कुछ भी असर नहीं करता।

गजसुकुमार ने भी व्याख्यान सुना। उसने अभी बाल्यावस्था को पार नहीं किया था। निर्मल हृदय पर उपदेशों का गहरा प्रभाव पड़ा। उसने उसी समय मुनिव्रत अंगीकार करने का निश्चय कर लिया।

घर आने पर उसने माता, बड़े भाई तथा दूसरे इष्टजनों के सामने अपने विचार प्रकट किए। सबने बहुत समझाया किन्तु वह अपने निश्चय पर अटल रहा।

गजसुकुमार ने भगवान के पास दीक्षा ले ली और उसी समय योग साधन के लिए आज्ञा प्राप्त करके वन को ओर प्रस्थान कर दिया। निर्जन स्थान में पहुंचकर समाधि लगा ली और आत्मचिन्तन में लीन हो गए।

कार्यवश सोमिल ब्राह्मण उधर से निकला। पास आने पर देखा—यह क्या! यह तो मेरा जामाता है। क्या यह साधु हो गया? यदि यही बात थी तो विवाह क्यों किया। इसने मेरी कन्या का जीवन नष्ट कर दिया, इतना शीघ्र इतना परिवर्तन! इसने मेरे साथ विश्वासघात किया है।

सोमिल का क्रोध बढ़ता गया। प्रतिशोध की ज्वाला प्रज्वलित हो उठी। उसने उसी समय बदला लेने की ठानी। पास ही आग जल रही थी। उसने गजसुकुमार के सिर पर मिट्टी की पाल बनाई और उस में खैर के जलते हुए अंगारे भर दिए। खोपड़ी खिचड़ी के समान पकने लगी।

गजसुकुमार के मन में किसी प्रकार का विकार न आया। उसने आग को हटाने के लिए भी कोई चेष्टा न की। वह उसी प्रकार समाधि में स्थिर बैठा रहा।

थोड़ी देर में ब्रह्मरन्ध्र से प्राणवायु निकली। शरीर निर्जीव होकर गिर पड़ा।

जो चाहिए मिल गया

कपिल बड़ा विद्वान तथा त्यागी ब्राह्मण था। दिन-रात शास्त्रों का अध्ययन करता रहता। उसे किसी बात की चिन्ता न थी, न किसी व्यक्ति की गरज !

एक दिन उसके मन में विवाह करने की इच्छा हुई। उसने एक ब्राह्मण कन्या से विवाह कर लिया।

भोग-विलास के दिन शीघ्र ही समाप्त हो गए। गार्हस्थ्य का उत्तरदायित्व आ पड़ा। आर्थिक विषमताओं ने आ घेरा। घर में खाने-पीने की कमी होने लगी। ब्राह्मणी कमा कर लाने को कहती किन्तु कपिल को कुछ न सूझ रहा था। पत्नी की भर्त्सना तीर-सी लगती किन्तु करता तो क्या करता ?

एक दिन सुना—राजा प्रतिष्ठित प्रतिदिन दो माशे स्वर्ण का दान करता है। उससे कुछ तो सहारा मिलेगा। महापण्डित कपिल भिक्षुक बन कर पहर रात रहते ही चल पड़े।

नगरी बहुत दूर न थी पर जब पहुंचे तो काफी अंधेरा हो चला था। राजमहल के द्वार बन्द थे। कपिल वहां खड़े द्वार खुलने की प्रतीक्षा करने लगे।

इतने में सन्तरी आ पहुंचा। उसने चोर समझ कर गिरफ्तार कर लिया।



प्रातः होते ही कपिल को चोर समझ कर राजा के समक्ष उपस्थित किया गया। उसके

हाथों में हथकड़ियां थीं और पैरों में बेड़ियां। दोनों तरफ सशस्त्र सिपाही थे। दरबारी घृणा-पूर्ण दृष्टि से देख रहे थे। पण्डित जी स्वयं आत्मग्लानि से दबे जा रहे थे।

राजा ने उसकी ओर लक्ष्य करके कहा—"तुम रात को कहां घूम रहे थे ? क्या तुम्हें मालूम नहीं है कि मेरे राज्य में चोर को कठोर दण्ड दिया जाता है ?"

कपिल ने कांपते हुए दीनता भरे शब्दों में अपनी कहानी सुनाई। आत्म-अभिमानी महा-पण्डित अत्यन्त दुखी हो रहा था।

राजा को विश्वास आ गया। महापण्डित की दशा देख कर उसे आश्चर्य हुआ और खेद भी। ब्राह्मण पर दया करके उसने कहा—

"पण्डितराज ! मुझे तुम्हारी दशा देखकर बड़ा दुख हो रहा है। तुम्हारी जो इच्छा हो, मांगो, मैं अवश्य पूर्ण करूंगा।"

कपिल ने सोचा—'मैं दो माशे स्वर्ण मांगने आया था किन्तु उससे कितने दिन काम चलेगा ? कम-से-कम एक वर्ष तो चैन से कटे।' उसने सौ मुद्राएं मांगने का विचार किया।

फिर ख्याल आया—'सौ मुद्राओं से क्या होगा ? न घर बनेगा न सुख के साधन खरीदे जा सकेंगे।' उसने सुख के सभी साधनों से सुसज्जित प्रासाद मांगने की ठानी। किन्तु वहां भी वह रुक न सका। नौकर चाहिए। सवारी चाहिए। सब के लिए धन की आवश्यकता होगी। वह मन-ही-मन अपनी आवश्यकता को बढ़ाता गया। हजारों से लाखों पर पहुंचा और लाखों से करोड़ों पर। फिर भी शान्ति न हुई। फिर मन में आया, राज्य मांग लूं।

उसी समय अन्तरात्मा बोल उठी—'क्या राज्य मिलने पर सुखी हो जाओगे ? क्या सेना के द्वारा तुम अपनी मृत्यु को जीत सकोगे ? क्या तुम्हारा कोश तुम्हें शारीरिक व्याधियों से मुक्त रख सकेगा ? क्या फिर तुम्हारी पत्नी तुमसे कभी अलग न होगी ? जिसके मोह में फंस कर तुम यहां तक चले आए, क्या वह सदा तुम्हारे साथ रहेगी ? कपिल ! तुम भटक गए। सुख का आधार तो तुम्हारी अपनी अन्तरात्मा है। यदि निर्द्वन्द्व सुख चाहिए तो ईश्वर की शरण लो। अपने को पहचानो। स्वयं को जान लेने के बाद ही तुम उस आनन्द को प्राप्त कर लोगे, जिसके बाद तुम्हारी सारी वासनाएं समाप्त हो जाएंगी।'

कपिल को अपनी अवस्था का ध्यान आया। उसने सोचा—'मोह ने मुझे कितना गिरा दिया ?'

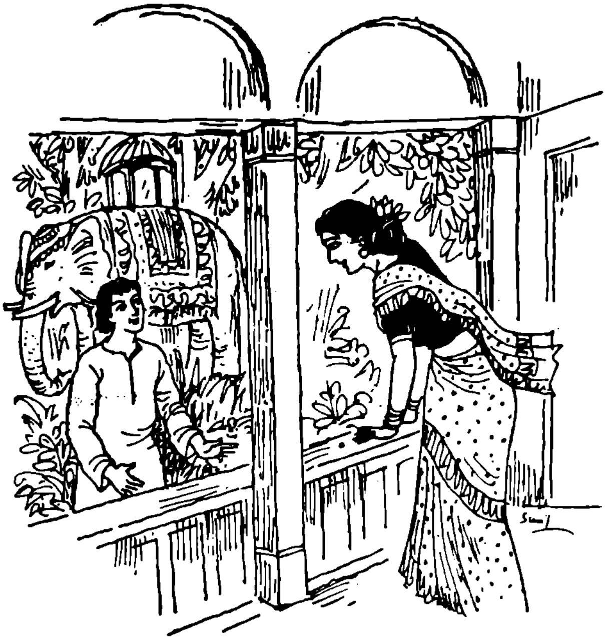
राजा ने उसे चुप देखकर पूछा—"बोलो ! ब्राह्मण देवता बोलो। क्या चाहते हो ?"

कपिल ने उत्तर दिया—"महाराज ! मुझे जो कुछ चाहिए था मिल गया।" वह उन्हीं पैरों वापिस चला आया।

पर्व की आराधना

देवदत्ता दासी होने पर भी अनिन्द्य सुन्दरी थी, उसके रूप की चर्चा दूर-दूर तक फैली हुई थी। बाल्यकाल से ही रानी प्रभावती के पास रही थी! इस कारण महाराज उदयन की भी विशेष कृपापात्री थी। जब वह बड़ी हुई तो प्रभावती का देहांत हो गया। उदयन शोक सागर में डूब गए। वह प्रौढ़ अवस्था को प्राप्त हो चुके थे। इस आयु में जीवन साथी का होना अपरिहार्य है। इस प्रकार स्नेह का परिपाक होने पर जब साथी का वियोग होता है तो पूर्ति असम्भव हो जाती है।

प्रभावती का वियोग होने पर राजा ने देवदत्ता को दासी के कार्य से मुक्त कर दिया। वह एक परिवार का अंग मान ली गई थी, उसके लिए कर्तव्य कुछ न था, सुविधाएं सभी थीं। राजा के लिए वह प्रभावती का एक अवशेष थी। वह उसे सदा प्रसन्न देखना चाहते थे।



किन्तु देवदत्ता को इतने मात्र से सन्तोष न था, राजा के द्वारा दी गई सुविधाएं उसके लिए साधारण-सी बात बन गई थीं। सुखी व्यक्ति अपने भूतकाल को भूल जाता है और नए-नए भविष्य की कल्पना किया करता है। इसके विपरीत दुखी को रह-रह कर भूत याद आता है, उसका ध्यान भविष्य की ओर नहीं जाता। यदि दुखी भविष्य का ध्यान रखे तो उस का दुख कम हो जाए और सुखी भूत को याद रखे तो उन्मत्त भी न बने। एक दासी के लिए राजसी सुविधाएं प्राप्त होना बहुत बड़ी बात थी किन्तु देवदत्ता अपने भूतकाल को भूल गई थी। वह तो हृदय की रानी बनना चाहती थी।

अवन्ती के राजा चण्डप्रद्योत ने देवदत्ता के रूप की प्रशंसा सुनी। जो व्यक्ति जिन बातों का इच्छुक रहता है उसे उन का पता लग ही जाता है। चण्डप्रद्योत रूप का पुजारी था। उस के दरबार में यह चर्चा प्रतिदिन हुआ करती थी। एक दिन किसी नवागन्तुक ने देवदत्ता का वर्णन किया। राजा ने उसे देखने का निश्चय किया। चण्डप्रद्योत गुप्त रूप से वीतभय नगर पहुंचा। उसने देवदत्ता को देखा और देवदत्ता ने उसको। दोनों अनिल-वेग नाम के हाथी पर बैठे और अवन्ती पहुंच गए।

प्रातः होते ही देवदत्ता की खोज प्रारम्भ हुई। गुप्तचर दौड़ाए गए। चण्डप्रद्योत द्वारा किए गए अपहरण का पता लगा। उदयन को यह अपना अपमान प्रतीत हुआ। यदि चण्ड-प्रद्योत उदयन से देवदत्ता की मांग करता और देवदत्ता भी अपनी इच्छा प्रकट करती तो सम्भव था वह स्वयं उसे दे देते। किन्तु इस प्रकार अन्तःपुर से एक कन्या का चला जाना, उन्हें उचित प्रतीत न हुआ।

उदयन ने चण्डप्रद्योत पर चढ़ाई कर दी। दोनों में भयंकर युद्ध हुआ। चण्डप्रद्योत पकड़ा गया। उदयन ने उसके ललाट पर दासीपति अंकित करवा दिया और अवन्ती को अपने सैनिकों के अधीन करके वीतभय नगर की ओर प्रस्थान किया।

वर्षा के कारण मार्ग में कुछ दिन रुकना पड़ा। वहीं पर्युषण पर्व आ गया। उदयन भगवान महावीर का अनुयायी था। बंदी होने पर भी चण्डप्रद्योत के प्रति उसका व्यवहार भद्र था। संवत्सरी के दिन उसने प्रतिक्रमण किया। अपने पापों की आलोचना की। संसार के समस्त प्राणियों से क्षमा-प्रार्थना की। पृथ्वी से लेकर मनुष्य तक सभी प्राणियों की गिनती करने के बाद उसने कहा—

खामेमि सव्वे जीवा सव्वे जीवा खिमंतु मे।
मित्ती में सव्वभूएसु बेरं मज्झ न केणई॥

पाठ पढ़ते समय उसके मन में आया, मैं किन से क्षमा मांगता हूं। जिनका मैंने कुछ नहीं बिगाड़ा? वास्तविक क्षमा तो मुझे उससे मांगनी चाहिए जिसका राज्य छीनकर बन्दी बना लिया है। उससे क्षमा-प्रार्थना किए बिना मेरी पर्व की आराधना अधूरी है।

वह चण्डप्रद्योत के पास गया। क्षमा मांगी, किन्तु चण्ड चुप रहा। उसके मन में अपमान की आग सुलग रही थी। उदयन उस के पैरों में गिर पड़ा उसने कहा—"भाई! मुझे क्षमा कर दो। यदि आप मुझे क्षमा न करेंगे तो मेरी आराधना अधूरी रह जाएगी।"

"क्षमा प्राप्त करने से पहले क्षमादान होना चाहिए।" चण्ड ने उत्तर दिया।

"हां क्षमादान। मैंने क्षमा कर दिया।" उदयन ने शीघ्रता से कहा।

"मेरा राज्य छीन कर और मुझे बंदी बना कर आपने मुझे दण्डित किया है। क्या दण्ड को ही क्षमा कहते हैं।"

"आप ठीक कहते हैं। मैं भ्रम में था। दण्ड और क्षमा में तो परस्पर विरोध है। मैंने आपको मुक्त किया। आप अपना राज्य सम्भालिए! अब आप मेरे समकक्ष एक राजा हैं, मेरे बन्धु हैं। अब तो क्षमा प्रदान कीजिए।"

"मेरे ललाट पर 'दासीपति' अंकित करके आपने मुझे सदा के लिए अपमानित किया है। इस दण्ड से उद्धार कैसे होगा?"

उदयन विचार में पड़ गया। ललाट पर अंकित अक्षरों को मिटाना अशक्य था।

उसने कहा—"बन्धुवर! मुझ से यह बहुत बड़ी भूल हुई। इसके लिए आप मुझे जो चाहें वह दण्ड दे सकते हैं। आवेश में आकर ऐसा कर बैठा। मुझे इसके लिए पश्चाताप हो रहा है। आप मेरे समस्त राज्य को ले लीजिए किन्तु क्षमा कर दीजिए।"

उदयन अपराधी की भांति क्षमा मांग रहा था और चण्डप्रद्योत क्षमा देने वाला था। क्षमा करना या न करना, उसके हाथ की बात थी। धीरे-धीरे उसका हृदय भी पिघला। आंखों से आंसू टपकने लगे। दोनों गले लगकर एक-दूसरे से मिले। उदयन ने चण्ड से क्षमा मांगी और चण्ड ने उदयन से। उदयन ने चण्ड को क्षमा प्रदान की और चण्ड ने उदयन को।

दासी पुत्र

चिलाती धनावह सेठ की दासी थी। उन दिनों दासी-प्रथा प्रचलित थी। दासी भी एक सम्पत्ति है। मालिक का उस पर पूर्ण अधिकार है। उसको स्वतन्त्र रूप से कार्य करने का किसी प्रकार का अधिकार नहीं है। जब मनुष्य ने पैसे को सार्वभौम सत्ता दे दी है तो उस के विरुद्ध बोलने वाला दण्डनीय है।

चिलाती किशोर अवस्था में ही दासी बना ली गई थी। सेठजी की उस पर विशेष कृपा थी। इसे एक पुत्र उत्पन्न हुआ। बालक सुन्दर था तथा होनहार प्रतीत होता था। किन्तु किसी ने भी यह जिज्ञासा नहीं प्रकट की कि इसका पिता कौन है, क्योंकि दासियों की सन्तान के विषय में ऐसा कुतूहल किसी को न होता था।

इससे पहले कनकदास के यहां भी पुत्र उत्पन्न हुआ था, जिसके उपलक्ष्य में ढोल बजते रहे। बधाइयों का तांता लगा रहा। ऐसा प्रतीत होता था जैसे सारे नगर को अमूल्य निधि प्राप्त हुई हो। एक बालक के जन्म पर सामूहिक हर्ष मनाया जा रहा है तो दूसरे की कोई परवाह ही नहीं है।

बालक का नाम भी नहीं रखा गया। लोग इतना ही जानते थे कि वह चिलाती का बेटा है। इसलिए उसे चिलाती पुत्र कहने लगे। गली के बालक उसे चिलाती पुत्र कह कर पुकारते और अन्दर ही अन्दर आनन्द का अनुभव करते। उनकी अस्मिता को पोषण मिलता। वे मन ही मन कहते—हम कुलीन हैं और यह दासी का बेटा है।

सेठजी के एक पुत्री थी। वह चिलाती पुत्र के समवयस्क थी। नाम था सुषमा। चिलाती पुत्र सोचता—गली के सभी बालक सुन्दर-सुन्दर नामों से पुकारे जाते हैं, मेरा कोई नाम नहीं है। जिस घर में सुषमा पैदा हुई है, वहीं मैं भी पैदा हुआ हूं। केवल इतना ही तो अन्तर है कि मेरी माता दूसरी है और उसकी माता दूसरी। मैं सुषमा से किस बात में कम हूं, फिर भी मेरा घर में कोई अधिकार नहीं है। सुषमा मालकिन है और मैं दया का पात्र हूं। बालक के इन प्रश्नों का उत्तर देने वाला कोई न था। जब वह किसी से पूछता तो एक ही उत्तर मिलता—तू दासी का पुत्र है।

जब वह चार वर्ष का हुआ, मां का देहान्त हो गया। प्यार और अधिकार का एकमात्र सहारा भी टूट गया। मां की गोद में बैठकर वह गर्व का अनुभव किया करता था। उस समय दूसरे बालकों को प्राप्त सभी वस्तुएं तुच्छ समझता था। वह मन ही मन कहता—उनके पास ऐसी मां कहां है। उसे अपनी मां सबसे अच्छी लगती। उसे देखकर वह सब कुछ भूल जाता। वहां वह अपना अधिकार मानता था। वहां ममता और प्यार का स्रोत था। सभी अभावों की पूर्ति उससे हो जाती। मां के वियोग से उसके कोमल हृदय पर आघात लगा। वह अपने को अभागा मानने लगा। उसने अपने को कुलीन समझने वाले अस्मिता से भरे हुए बालकों के साथ खेलना छोड़ दिया। उसे ऐसा प्रतीत होता जैसे उनमें और उसमें सचमुच कुछ भेद है।

हीन भाव से दबी हुई आत्मा सम्मान खोजती है। चिलाती पुत्र ऐसे सम्मान को खोजने लगा, जहां जन्मकृत वैषम्य न हो। जहां व्यक्ति का स्वागत माता-पिता के कारण नहीं अपितु अपने ही कारण हो। वह इसी तलाश में घर से निकल पड़ा। ऐसी मान्यता का आधार कोई बौद्धिक या शारीरिक दोष नहीं होता। इस दृष्टि से देखा जाए तो बहुत से उपेक्षित बालक उनकी अपेक्षा श्रेष्ठ होते हैं, समाज जिनके चरण पूजता है। चिलाती पुत्र को कुछ ऐसे साथी मिल गए, जिनके लिए घर में कोई आकर्षण नहीं था। वह उनकी टोली में सम्मिलित हो गया। दिन भर इधर-उधर भटकना, लड़ना, झगड़ना तथा गालियां देना और सुनना उसका दैनिक जीवन बन गया था। समाज जिन नियमों को अच्छा मानता है उनको तोड़ने में उसे रस आने लगा।

सेठजी भी चाहते कि वह शरीफ बने। किन्तु उसे शराफत से नफरत हो गई थी। वह शराफत का यही मतलब समझता था कि पूंजीपतियों की ताड़ना सहे। भूख लगने पर रोटी न मांगना। गाली खाकर भी हुजूर कहना। वास्तव में देखा जाए तो गरीब का कोई अधिकार नहीं होता है। दासी पुत्र के लिए शिक्षा और संस्कार का प्रश्न ही नहीं खड़ा होता। वह दासी का पुत्र है। इसलिए उसके लिए दास बनना अनिवार्य है। चिलाती पुत्र का हृदय समाज की यह व्यवस्था मानने के लिए तैयार न था।

सुषमा मां-बाप की लाड़ली बेटी थी। बड़े भाई भी बहुत चाहते थे। उसकी हर मांग पूरी की जाती। उसके लिए अभाव केवल एक शब्द था, फिर भी वह यह न समझ सकी कि चिलाती पुत्र उसी घर का बालक होने पर भी उपेक्षित क्यों है? उसका सरल हृदय उस भेदपूर्ण व्यवहार का कारण जानना चाहता था किन्तु कहीं से भी संतोषजनक समाधान न मिलता।

जब हम देखते हैं कि किसी व्यक्ति पर अन्याय हो रहा है, तो उसके प्रति स्वाभाविक सहानुभूति उत्पन्न हो जाती है। मानव हृदय वैषम्य नहीं देखना चाहता। इसी प्रकार किसी पीड़ित को देखकर हमारे हृदय में अशान्ति उत्पन्न होती है उसके प्रति दया, सहानुभूति होती है।

सुषमा चिलाती पुत्र के साथ खेला करती। उसका मन रखने के लिए सेठ और सेठानी कोई आपत्ति न करते। कई बार लड़ती, झगड़ती किन्तु डांट-डपट चिलाती पुत्र पर ही पड़ती, सुषमा जानकर शरारत करती किन्तु दोषी चिलाती पुत्र को ही ठहराया जाता। इससे वह तो मन ही मन कुढ़कर रह जाता। किन्तु सुषमा को भी प्रसन्नता न होती। कई बार तो बालक जानबूझकर तूफान करता है और चाहता है कि कोई उसे रोके। सुषमा की यह इच्छा अपूर्ण ही रह जाती। वह मन ही मन चिलाती पुत्र के प्रति होने वाले अन्यायपूर्ण व्यवहार के लिए माता-पिता को दोषी ठहराती। हृदय सहानुभूति से भर जाता। धीरे-धीरे सहानुभूति स्नेह में परिणत होने लगी। वह उसके खान-पान और सुख-सुविधाओं का ध्यान रखने लगी। अपने खाने की चीजें उसके लिए बचाकर रखती। वह चला जाता तो मन न लगता। उसके साथ बातें करने में सुख अनुभव करती। देर से आता तो पूछताछ करती, डांटती, रुठ जाती। वह उस पर अपना अधिकार मानने लगी थी किन्तु यह पूंजी का अधिकार न था। मानने की इच्छा न होने पर भी चिलाती पुत्र उससे मान ही जाता। उसे मानने में कुछ सुख प्रतीत होता था। सुषमा से बातचीत करके उसे भी रस आता। फिर क्षण भर घर का वातावरण सामने आता तो और

मन उचाट हो जाता। बाहर के साथियों से मन ऊब जाता तो फिर सुषमा की याद आती और वह खिंचा चला आता।

क्रमशः दोनों ने किशोरावस्था में पदार्पण किया। सेठजी अब नहीं चाहते थे कि सुषमा, चिलाती पुत्र के साथ मेलजोल बढ़ाए। जब कभी दोनों को वार्तालाप करते देखते तो चिलाती पुत्र को कहते—"तुम दासी के पुत्र हो, सुषमा तुम्हारे मालिक की पुत्री है। तुम दोनों का मिलना-जुलना ठीक नहीं है।" सुषमा को भी समझाते। किन्तु उन दोनों पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता।

एक दिन चिलाती पुत्र को अपने साथियों के साथ खेलते देर हो गई। जोर से भूख लगने पर वह घर की ओर चल पड़ा। रसोई बन्द हो चुकी थी। किन्तु सुषमा ने उसके लिए कुछ खाना रख लिया था। उसने पहले तो नाराजगी प्रकट की फिर भोजन लेने अन्दर चली गई।



इतने में सेठजी आ गए। देखा—सुषमा भोजन लेकर जा रही है। उन्हें यह झुकाव अच्छा न लगा। क्रोध में आकर डांटना शुरू किया—"दासी के पुत्र होकर तुम सुषमा को अपनी ओर खींच रहे हो। मैं तुम्हें कितनी बार अलग रहने के लिए कह चुका हूं। मेरे घर में रहकर मेरी ही पुत्री के साथ यह व्यवहार। मैं तुम्हारा मुंह नहीं देखना चाहता, मेरे घर से निकल जाओ। आज तक बालक समझकर क्षमा करता रहा। अब तुम्हारे लिए यहां स्थान नहीं है।"

चिलाती पुत्र को सेठ की बात चुभ गई। वह उसी समय उठ खड़ा हुआ। सुषमा ने बहुत आग्रह किया किन्तु वह चला गया और फिर न लौटा।

उस दिन के बाद चिलाती पुत्र नगर में भी दिखाई नहीं दिया। उसका कोई साथी मिल जाता तो सुषमा पूछती। कोई कहता—वह वैभारगिरि की गुफाओं में रहने लगा है तो कोई कहता वह डाकू हो गया, कोई कहता—वह मर गया है।

सुषमा के विवाह की तैयारियां होने लगीं। पाटलिपुत्र के सार्थवाह का पुत्र कनकरुचि अत्यन्त व्यापार-कुशल था। उसने पिता का सारा व्यवसाय सम्भाल लिया था। दोनों पक्ष विशाल तैयारियां कर रहे थे।

किन्तु सुषमा का मन अशांत था। वह चिलाती पुत्र को खोजना चाहती थी। विवाह की तिथि जैसे-जैसे समीप आ रही थी उसकी अशांति बढ़ रही थी।

धनावह ने स्वागत की तैयारियां की। तोरण द्वार सजाए। दहेज में देने के लिए अनेक चीजें एकत्रित कीं। नए-नए आभूषण बनवाएं। स्त्री और पुरुषों की टोलियां देखने के लिए आने लगीं। सभी सेठजी की सम्पत्ति देखकर आश्चर्य में पड़ जाते किन्तु सुषमा अभी भी बेचैन थी।

बारात आई और जनवासे में ठहर गई। विवाह का मुहूर्त सूर्यास्त के पश्चात था।

गोधूलि के समय नगर में एकाएक हा-हाकार मच गया। घरों के दरवाजे बन्द होने लगे। चारों ओर से "भागो-भागो" की आवाज आने लगी। पलक मारते ही धनावह का घर डाकुओं से घिर गया।



सरदार ने कहा—"सबके सब जहां खड़े हो वहीं बैठ जाओ।" सरदार धनुष पर तीर चढ़ाए इधर-उधर घूमने लगा। साथी धन की गठरियां बांधने लगे किन्तु सरदार की आंखें कुछ और ही खोज रही थीं। उसकी दृष्टि एक कोने में गई। वहां विवाह के वस्त्राभूषणों से

सुसज्जित सुषमा सिमटी हुई बैठी थी। सरदार ने जाकर कहा—"सुषमा! मैं तुम्हें लेने आया हूं। चलो, मेरे साथ चलो।"

सुषमा भय से कांप रही थी। चिलाती पुत्र की आवाज सुनकर मन में विचित्र भाव उठने लगे। किन्तु वहां अधिक विचार करने के लिए समय नहीं था।

साथियों ने धन की गठरियां बांधकर सिर पर रखीं और जंगल की राह ली। चिलाती पुत्र सुषमा को लिए पीछे-पीछे चल रहा था। थाने में खबर दी गई, नगर का कोतवाल सिपाहियों की टुकड़ी के साथ आ पहुंचा। सेठजी को धन की इतनी चिन्ता न थी जितनी सुषमा की।

पीछा करते-करते दिन निकल आया। आगे-आगे सुषमा को लिए हुए चिलाती पुत्र भाग रहा था। पीछे-पीछे धनावह सेठ और पुलिस। धूप कड़ी थी। सुषमा अचेत हो गई। चिलाती पुत्र ने उसको होश में लाने के लिए काफी प्रयत्न किए परंतु सभी व्यर्थ। इतने में पुलिस और सेठ आते दिखाई दिए। इस अवस्था में उठकर भागना अशक्य था। उसे अपने प्राणों का भय नहीं था किन्तु वह सुषमा को नहीं जाने देना चाहता था। सशस्त्र पुलिस के साथ धनावह बढ़ा आ रहा था। सुषमा और चिलाती पुत्र को ठहरते देखकर उसके पैरों में दुगुना बल आ गया था।

निराशा क्रोध को जन्म देती है। मनुष्य जब किसी वस्तु को स्वयं नहीं प्राप्त कर सकता तो चाहता है वह दूसरों को भी न मिले। उसने देखा, अब सुषमा उसके पास नहीं रह सकती। फिर क्रोध आया--"सुषमा मेरी है, उसे कौन छीन सकता है? यह मेरी है, दूसरे की नहीं हो सकेगी।" उसने खड्ग उठाया और एक ही प्रहार से सुषमा का सिर शरीर से अलग कर दिया। खून टपकते हुए छिन्न मुण्ड को हाथ में उठाकर वह आगे चल पड़ा।

धनावह वहां पहुंचा, जहां सुषमा का शरीर पड़ा था। अब भी उस पर विवाह के वस्त्र तथा आभूषण चमक रहे थे। किन्तु वे भय उत्पन्न कर रहे थे। वह पहले से ही थका हुआ था। पुत्री के वियोग ने विह्वल बना दिया। अशक्त होकर वहीं गिर पड़ा, आगे बढ़ने की सामर्थ्य न रही।

चिलाती पुत्र सिर को हाथ में लिए दौड़ा जा रहा था। उसके हृदय में भयंकर तूफान मचा हुआ था। आंखों से आग बरस रही थी। उसे मानवमात्र से घृणा हो गई थी। वह सारी दुनिया को भस्म कर डालना चाहता था। उसका रूप देखकर जंगली पशु भयभीत होकर भाग खड़े होते।

सुषमा के सिर को हाथ में लिए वह विक्षिप्त अवस्था में भटक रहा था। वास्तव में देखा जाए तो अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए दूसरों के अधिकारों को कौन नहीं छीनता? किसी को खरीदना, गुलाम बनाना, वैयक्तिक तथा सामाजिक अधिकारों से वंचित करना, डाका ही तो है। चिलाती पुत्र अपने सामाजिक तथा वैयक्तिक अधिकारों को लुटा चुका था। यदि हृदय की बात कही जाए तो सुषमा उसकी थी।

अचानक वह ठिठक गया। सामने उसने एक ध्यानस्थ योगी को देखा। उसके ललाट पर दिव्य तेज था। मुख पर शांति तथा प्रेम विराज रहे थे। दृष्टि नाक पर जमी थी, चिलातीपुत्र को उसमें कुछ आत्मीयता-सी दिखाई दी। मन में विचार आया यह व्यक्ति भी समाज के द्वंद्वों से

ग्रस्त हो यहां आया है। फिर भी इसके मन में शांति है। मेरे मन में आग धधक रही है। इसे मार्ग मिल गया है और मैं पथभ्रष्ट हूं। चिलाती पुत्र के पैर अपने आप उस ओर बढ़ चले। महात्मा के पास जाकर वह चुपचाप बैठ गया।

थोड़ी देर बाद योगी ने आंखें खोलीं और प्रेम भरी दृष्टि से उसकी ओर देखा। चिलाती पुत्र के हाथ में अब भी सुषमा का कटा हुआ सिर था। दूसरे हाथ में खड्ग था। शरीर पर रक्त के छींटे पड़े हुए थे किन्तु फिर भी मुख पर वह भयंकरता न रही थी। योगी की स्नेहपूर्ण दृष्टि ने उसे सौम्य बना दिया था। वह किंकर्तव्यविमूढ़-सा होकर उन्हें देखने लगा। योगी ने मुस्कराते हुए कहा—"भाई, तुम्हारा स्वागत है।"

चिलाती पुत्र ने आश्चर्य में पड़कर कहा—"भगवन ! आप किसका स्वागत कर रहे हैं। मैं हत्यारा हूं, डाकू हूं, दासी पुत्र हूं। क्या मुझे भाई कहने से आप अपवित्र न हो जाएंगे ?"

योगी ने देखा—चिलाती पुत्र की आत्मा तिरस्कार पाकर भयंकर हो उठी है। शांति-प्राप्ति के लिए उसे निजगौरव का ज्ञान कराना चाहिए।

योगी ने कहा—"मैंने तो तुम्हें भाई ही कहा है। इसी शरीर द्वारा तुम मेरे और समस्त संसार के वन्दनीय बन सकते हो।"

"क्या आप मुझे भुलावा दे रहे हैं ? मेरे सरीखा पापी भी कहीं ऊंचा उठ सकता?" चिलाती पुत्र ने अधीर हो कर पूछा।

"भाई! मैं सर्वथा सत्य कह रहा हूं। पापी कहकर अपनी आत्मा का अपमान मत करो।"

"भगवन ! मैंने दुनिया को लूटा। जो मेरे लिए जान देती थी, स्नेह का एकमात्र केन्द्र थी उसके भी प्राण ले लिए। यह सिर उसी का है। मैंने स्वयं काटा है। मैं कितना विश्वासघाती हूं। हत्यारा हूं।" चिलाती पुत्र अपने जहरीले घावों को खोल-खोल कर महात्मा के सामने रख रहा था और अनुभव कर रहा था कि उसकी वेदना कम हो रही है।

महात्मा ने उत्तर दिया—"संसार में ऐसा कोई पाप नहीं है जो धुल न सकता हो।"

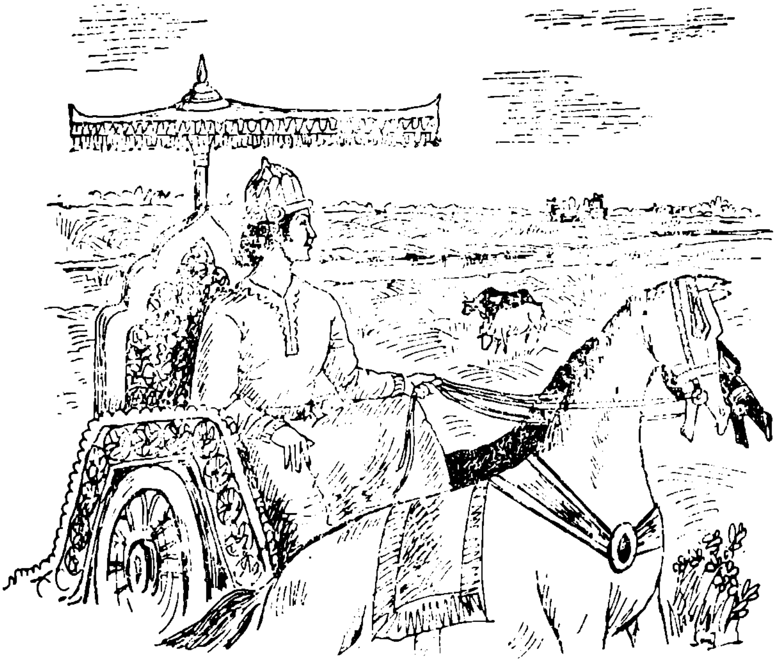
चिलाती पुत्र महात्मा के चरणों में गिर पड़ा। उन्होंने उसे अहिंसा और क्षमा का उपदेश दिया। उन्होंने कहा—"भाई! आज से संसार के समस्त प्राणियों को अपना मित्र समझो। किसी के प्रति द्वेष भावना मत रखो। किसी से भय मत करो। फिर देखो। संसार के समस्त प्राणी तुम्हारे मित्र बन जाएंगे। धनावह को भी अपना मित्र मानो। यह सत्य अपने हृदय में रख लो कि न कोई किसी का शत्रु होता है और न किसी का मित्र। हमारी भावना ही शत्रु या मित्र बनाती है। तुम चाहो तो समस्त संसार को अपना मित्र बना सकते हो।"

लोगों ने एक दिन सुना—आज धनावह सेठ अपने भाई-बंधुओं के साथ महात्मा चिलाती पुत्र के दर्शन करने जा रहे हैं।

अन्तिम याचना

अपनी पच्चीस वर्ष की आयु में कुमार पहले-पहल ननिहाल गया था। वहां से लौटा तो हृदय में आग लगी हुई थी, जैसे हजारों बिच्छुओं ने एक साथ डंक चुभो दिए हों।

कुमार का नाम था—विदुदर्भ। वह राजा प्रसेनजित का युवराज तथा सेनापति था और शाक्यों का भागिनेय। हाथ में घोड़ों की लगाम थी किन्तु वह ढीली पड़ गई थी। घोड़े अपनी इच्छानुसार धीमी चाल से चल रहे थे। कुमार की आंखें चारों ओर फैले हुए शाक्यों के भू-प्रदेश पर घूम रही थीं और उनमें खून उतर रहा था। हवा में झूमते हुए सुनहले खेतों, धान की क्यारियों तथा नदी किनारे चरती हुई हृष्ट-पुष्ट धेनुओं को देखकर उसके मन में ममता और घृणा, हर्ष और विषाद एक साथ उत्पन्न हो रहे थे। दूर-दूर तक फैले हुए फलों से लदे आम के उद्यानों को देखकर उसने एक दीर्घ निःश्वास छोड़ी। हृदय में भयंकर तूफान उठ रहा था।



"इतनी विशाल समृद्धि और उपभोग करने वाले प्रजाजन इतने थोड़े?" कुमार के मन में साम्राज्य लिप्सा जागृत हो उठी। अरे! इन हरे-भरे खेतों की रखवाली करने वाला भी तो कोई नहीं दिखाई देता। हमारे यहां सूखी घास के लिए पहरेदार रखने पड़ते हैं, नहीं तो उसकी भी चोरी हो जाती है। लूट, डकैती, परस्पर शत्रुता एवं द्वेष का अंत ही नहीं होता।

ये शाक्य बीज बोते हैं और फसल पकने पर आकर काट लेते हैं। न रखवाली की जरूरत है, न झगड़े टंटों की। ये कितने सुखी हैं।

उसने एक बार घूमकर पीछे देखा, जैसे उसके मन की बात कोई सुन रहा हो। पीछे-पीछे अनुचर सैनिक थे। उनकी भी लुब्ध दृष्टि उस शस्यश्यामला भूमि पर जमी हुई थी। उदीयमान सूर्य की किरणों में खेत ऐसे दीख रहे थे जैसे चारों ओर सुवर्ण बिछा हुआ हो। कुमार की विचार-शृंखला उत्तरोत्तर गम्भीर बन रही थी। रह-रहकर शाक्यों का व्यवहार याद आ रहा था।

मेरे नाना महानामन ने शाक्य युवकों की रथ दौड़ में मुझे क्यों नहीं भाग लेने दिया? शाक्य ललनाएं अपनी कटिमेखला हिलाती हुई मेरा उपहास कर रहीं थी। मैंने जिस शाक्य सुंदरी को पसन्द किया और अपनी सहचरी बनाने का प्रस्ताव रखा तो उसने कितना अपमान भरा उत्तर दिया, "शाक्य कन्याएं सस्ती नहीं है।" क्या मुझे वर लेने से वह सस्ती हो जाती। मैं मगध का सेनापति हूं। राजगृही का युवराज हूं। यदि इनमें मिथ्याभिमान न होता तो मेरे प्रस्ताव को वरदान मानतीं। मैं इन शाक्यों का अभिमान चूर करूंगा। इन्हें बता दूंगा, किस प्रकार शाक्य कन्याएं भटक रही हैं और उन्हें स्वीकार करने वाला कोई नहीं है।

अचानक रथ के पहियों की घर्घराहट हुई और वनमयूर कारव करने लगे। प्रत्येक गर्जन को घनगर्जन समझ कर नाच उठने वाला मयूर का सरल हृदय यह नहीं जानता कि विनाश की गर्जन भी ऐसी ही होती है।

कुमार की विचार-शृंखला टूटी। एक अश्वारोही ने आगे आकर नम्रतापूर्वक सेनापति का रत्नजटित अस्त्र उसे अर्पित किया।

"क्या अस्त्र इतना शीघ्र मिल गया?" कुमार ने अश्वारोही से पूछा।

"हां, स्वामिन! किसी ने इसे छुआ तक नहीं। मुझे कहा-तुम अपने ही हाथ से उठा लो।"

"नाना जी क्या कर रहे थे?" कुमार ने स्नेहार्द्र होकर अपने नब्बे वर्ष के वृद्ध मातामह, शाक्य गणनेता महानामन के समाचार पूछे- "क्या मुझे याद कर रहे थे?"

सैनिक चुप रहा।

"कुछ नहीं पूछा?"

सैनिक शांत खड़ा रहा।

"क्या कर रहे थे?"

सैनिक कुछ न बोला।

"नानाजी! उनमें कितनी ममता भरी है।" युवराज के हृदय में एक द्वन्द्व प्रारम्भ हो गया। यदि उनका स्नेह न रोकता तो मैं अभिमानी शाक्यों का नशा एक घड़ी में उतार देता। इस समस्त भू-खंड पर मगध का शासन होता। ननिहाल के साथ वैर खड़ा करने के लिए कोई बहाना मिलना चाहिए। फिर तो मैं इस गणतंत्र की जड़ें उखाड़ दूंगा। यह भी कोई राज्य है?

प्रत्येक शाक्य का समान अधिकार, प्रत्येक की मतगणना पर शासन। यहां का प्रत्येक व्यक्ति अपने को राजा मानता है। प्रत्येक शाक्य को गणतंत्र का नागरिक होने का अभिमान है। ये हमारे राजतंत्र को हलका समझते हैं, उसकी अवहेलना करते हैं। इस गणतंत्र का अस्तित्व हमारे तेजोवध और अपमान का कारण बना हुआ है। कलेजे में कांटे के समान चुभ रहा है। किन्तु क्या करूं ? नाना जी के सफेद बाल सामने आ जाते हैं।"

कुमार विदुदर्भ अपनी राजधानी पहुंचा। मन में भयंकर आग सुलग रही थी। ननिहाल की बातें सुनाने के लिए मां के पास गया। किन्तु राजमाता वासभखत्तियां का मन उदास था। कुमार ने जितना कहा, उसने बिना मन के सुन लिया। एक भी प्रश्न नहीं पूछा। उसके मन में एक कांटा छुपा हुआ था। छब्बीस वर्ष हो गए, जब उसका विवाह हुआ था। उसके बाद एक बार भी पीहर न गई। बाप के घर से कभी बुलावा नहीं आया। पति के घर में पटरानी का पद प्राप्त था, किन्तु उसे इस बात की खुशी न थी। वह इसे अपमान मानती थी। मन में एक ही आश्वासन था कि उसने स्वयं अपमानित होकर शाक्यों के राज्य को प्रसेनजित के हाथों से बचाया है। बुद्ध को जन्म देने वाले महान कुल की कन्या को प्राप्त करके प्रसेनजित ने अपने को गौरवशाली माना था और साम्राज्य लिप्सा को अंशतः शांत कर लिया था। उसे इस बात की सांत्वना थी कि मैंने शाक्यों का मस्तक नीचे कर दिया है। यदि उस समय वह न प्राप्त होती तो गणतंत्र की राज्यलक्ष्मी का छब्बीस वर्ष पहले ही अंत हो गया होता।

पुत्र के चले जाने पर वासभखत्तियां को अपने विवाह की पहली रात याद आई, जिसे उसको बाध्य होकर स्वीकार करना पड़ा था।

"क्यों ! मैं शाक्यों का जमाई बना या नहीं ?" पति के ये ताने से भरे शब्द वह अभी तक न भूली थी।

"क्यों ! मैंने घमण्डियों का सिर नीचा किया या नहीं ?"

जो व्यक्ति स्वयं ऊंचा नहीं चढ़ सकता वह अपने से ऊंचे को नीचे गिरा कर तृप्ति का अनुभव करता है। प्रसेनजित की ईर्ष्यावृत्ति महलों में महकते हुए सुगन्धित इत्र, तेल तथा पुष्पों को दुर्गन्धित बना रही थी। वासभखत्तियां का मस्तक उससे फटा जा रहा था। गणतन्त्र के स्वतन्त्र वातावरण तथा शाक्य पिता के संस्कारों में पली हुई षोडशी कन्या का यौवन एक साम्राज्य वाद का जंगली उपासक चुपचाप लूट रहा था और उसे अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए मन मार कर अर्पण करना पड़ रहा था। प्रसेनजित के शब्द उस अभिमानिनी के हृदय में अभी तक तीक्ष्ण बाण के समान चुभ रहे थे।

ऐसे विवाह का फल भी तदनुरूप ही था। कुमार विदुदुर्भ पिता के संस्कारों से सींचा गया विषवृक्ष था। स्वार्थ लिप्सा और क्रूरता का अवतार था। अभी-अभी वह जो बातें करके गया था उनमें एक बात से माता घबरा गई थी। उसने कहा था—"मां ! शाक्यों के पास इतनी समृद्ध तथा विशाल वसुन्धरा होने पर भी भोगने का ढंग निराला है। इस राज्यलक्ष्मी का कोई एक स्वामी नहीं है। इसके लाखों मालिक हैं। वहां न तो गगनचुम्बी राजप्रासाद हैं और न विशाल सैन्य। वहां तो सभी एक सरीखे हैं, सम्पत्ति में भी और मूर्खता में भी।"

वासभखत्तियां विदुदर्भ के स्वभाव को जानती थीं। इतने मात्र से उसने समझ लिया कि शाक्य गणतन्त्र पर मुसीबत आने वाली है। उसने एक गम्भीर निश्वास छोड़ी।

कुमार के साथ जो सैनिक शाक्य गणतंत्र में गए थे, धीरे-धीरे उनमें एक कानाफूसी-सी प्रारम्भ हुई। भूला हुआ आयुध लेकर जो अश्वारोही कुमार विदुदर्भ से रास्ते में मिला था, उसने एक घटना कुमार से छिपा ली थी किन्तु अपने दूसरे साथियों पर प्रकट कर दी। उसने बताया—"जब मैं भूले हुए आयुध को लेने वापिस गया तो महानामन की दासी उस फलक को दूध से धो रही थी जिस पर बैठकर सेनापति विदुदर्भ ने भोजन किया था।" "समझ में नहीं आया कि अपने सगे भागिनेय के फलक को धुलाने की क्या आवश्यकता पड़ गई?" बाहर निकल कर एक शाक्य से पूछा। कुलीनता के अभिमानी उस शाक्य ने आंखें टेढ़ी करके तिरस्कारपूर्वक कहा—"वह आसन महानामन के दौहित्र द्वारा पवित्र नहीं हुआ, किन्तु एक शूद्रापुत्र के स्पर्श से अपवित्र हो गया था। इसलिए दूध से धुलना आवश्यक था।"

"शूद्रा-पुत्र कैसे?" मैंने स्तब्ध होकर पूछा।

"तो क्या प्रसेनजित को यह अभिमान है कि हमने उसे शाक्य कन्या ब्याही है? नहीं, ऐसा नहीं है। तुम्हारी राजरानी वासभखत्तियां महानामन की रखी हुई एक शूद्रा दासी की लड़की है। शाक्य इतने मूर्ख नहीं है कि अपनी कुलीनता छोड़ दें। क्यों समझ गए न? तुम्हारे राजा को जाकर कह देना।" शाक्य युवक ने आत्माभिमान के साथ कहा।

क्रमशः यह चर्चा सारी सेना में फैल गई। एक शूद्रा का पुत्र सेनापति के पद को भ्रष्ट कर रहा है। क्षत्रिय सैनिक इस अपमान को न सह सके। चारों ओर असंतोष फैल गया। बात राजा प्रसेनजित के पास पहुंची। डर लगा, प्रसेनजित ने वासभखत्तियां और विदुदर्भ को भरे दरबार में बुलाया और रानी से सच्ची-सच्ची बात पूछी। रानी ने मस्तक नीचा करके कहना आरम्भ किया।

"मुझे स्वयं यह मालूम नहीं था कि मेरी माता शूद्रा है। पिता महानामन ने मुझे अपनी ही पुत्री के समान लाड़-प्यार से पाला था। जब तक अपने पिता के घर रही, मुझे किसी ने यह रहस्य नहीं बताया। पिता ने मुझे वही शिक्षा दी जो एक शाक्यकुमारी को दी जाती है। किन्तु राजरानी का झुका हुआ मस्तक ऊंचा उठ गया।" मेरे पिता असत्यवादी नहीं है। शाक्य शिरोमणि महानामन ने जिस रात को मुझे तुम्हारे हवाले किया उसी दिन माता के शूद्रा होने की बात मुझे कह दी थी। मैं शूद्रा ठहरी। उसी दिन मैंने तुम्हारे महलों में आने की अपेक्षा एक वेश्यागृह में जाना अधिक पसन्द किया होता। किन्तु मेरे वृद्ध पिता ने आंखों में आंसू भरकर दीनता भरे शब्दों में कहा—"बेटी! शाक्य सेना प्रसेनजित की सागर के समान विशालवाहिनी का सामना न कर सकेगी। एक पत्नीव्रत के नियम ने शाक्यों की पुरुष संख्या को बहुत घटा दिया है। शाक्य रक्त वाली एक भी कन्या किसी बाहर के राजा को वरने के लिए तैयार नहीं होगी। यदि कोई तैयार हो भी जाए तो शाक्य युवक अपने रहते हुए किसी कन्या को परदेसी राजा के पास न जाने देंगे। परिणाम यह होगा कि जो मुट्ठी भर हैं, वे भी कटकर मर जाएंगे। एक परदेसी राजा के हाथ से शाक्यों का खून बहेगा, उनका भयंकर संहार होगा। शाक्य कन्याओं का सतीत्व लुटेगा। बलात्कार से राक्षसों

की उत्पत्ति होगी। मनुष्यों का संहार तो होगा ही, साथ में जनतंत्र और प्रजातंत्र की परम्परा लुप्त हो जाएगी। इसी महानाश को रोकने के लिए मैं अपनी प्यारी संतान की बलि दे रहा हूं।"

"यदि मैं इसके लिए तैयार न होती तो शाक्य माताओं की गोद से वैसे पाप प्रकट होते, इसका नमूना सामने खड़ा है।" यह कहकर माता ने अपने पुत्र का स्पर्श किया।

जहर का एक घूंट पीकर फिर बोली—"मैंने यह सब कुछ नहीं होने दिया। किन्तु महाराज! आज भी मेरे हृदय में वे शाक्य तरुण घर किए हुए हैं। मेरी स्वप्न लोक की सृष्टि के निर्माता वे ही हैं। उनकी वह मस्त चाल, सरल हृदय, सुदृढ़ शरीर, कला प्रेम तथा रथों की दौड़ आज भी मेरे मन को खींच रही है। वे रूप और कला, वीरता और विरक्ति का एक साथ आनंद लेना जानते हैं। महाराज! आपने पहली ही रात को अपने रंगमहल में उनका अपमान किया। मेरे सपनों की दुनिया तो मिट ही गई थी। आपने जले पर नमक छिड़का। मेरे हृदय ने कभी आपको स्वीकार नहीं किया। मेरे गर्भ से उत्पन्न हुआ तथा मेरी ही गोद में पला हुआ यह पुत्र मेरा आदर्श नहीं है। यह तो मेरा पाप है।"

यह कहकर वह बयालीस वर्ष की शाक्यसुंदरी सिर झुका कर खड़ी हो गई। उसके मस्तक की सिन्दूर रेखा ललाट से चोटी की ओर ऊंची उठती हुई ऐसी मालूम पड़ रही थी, जैसे वह स्वप्नलोक में विचरण के लिए जा रही हो।

"हां! हां! शाक्यनन्दिनी!" प्रसेनजित ने उपहास करते हुए कहा। "मैं तो यह समझ गया कि शाक्य झूठे और ठग होते हैं। तुम्हारी बातों से यह अच्छी तरह सिद्ध हो गया। किन्तु शाक्यों के शिरोवन्द्य तुम्हारे पिता महानामन ने तुम्हारे साथ एक ही पात्र में भोजन किया था। यह तो एक सत्य हैं, मेरे सैनिकों ने अपनी आंखों से देखा है। क्या इससे उनकी कुलीनता में बट्टा नहीं लगा? क्या उस समय तुम शूद्रा नहीं थीं? क्या उन्होंने गणतंत्र की रक्षा के लिए अपने भोजन सम्बंधी छूआछूत को ताक में नहीं रख दिया? बस, मुझे तो इतना ही बताना था। शाक्य केवल धूर्त ही नहीं, पतित भी है।"

उत्तर देने के लिए वासभखतियां का मस्तक धीरे-धीरे ऊंचा उठा। उसने हंसते हुए कहा—"महाराज! मैं शाक्यों का बचाव नहीं करना चाहती। गणतंत्र और अपनी कुलीनता को ऐसे कपटपूर्ण उपायों से बचाने वाले अधिक दिन नहीं टिक सकते। फिर भी मैं आपके सामने यथार्थ बात रख देती हूं। उस दिन मेरे पिता जाति-पतित नहीं हुए किन्तु उन्होंने आपके प्रतिनिधियों को मूर्ख बना दिया। उनकी आंखों में धूल झोंक दी। मेरे पिता ने मेरी थाली में जैसे ही दाहिना हाथ डाला उनके पास एक महत्वपूर्ण संदेश पहुंचाया गया। वह अपने बाएं हाथ से संदेश पढ़ते रहे। दाहिना हाथ भोजन की थाली में ही पड़ा रहने दिया। मैंने अपना भोजन पूरा कर लिया। मेरे पिता महानामन ने ग्रास मुख तक उठाया भी नहीं। आपके प्रतिनिधि तो इस खुशी में फूले हुए थे कि उन्हें बुद्ध के कुल की कन्या प्राप्त हो रही है। इस उल्लास में उन्होंने ध्यान तक नहीं दिया।

"शूद्रे! आज से तुम्हें राजेश्वरी के पद से च्युत किया जाता है। साथ में तुम्हारे पुत्र को सेनापति के पद से।"

राजाज्ञा के अनुसार माँ और बेटा दोनों के गौरवपूर्ण पद छीन लिए गए।

विदुदर्भ क्रोध से जल रहा था। प्रतिशोध की भावना तीव्र हो रही थी। उसे सारा दोष अपनी माता और नाना का दिखाई दे रहा था। सभा को सम्बोधित करते हुए उसने कहा—"सेनापति पद के कारण मुझे जो गौरव प्राप्त था यह आपका दिया हुआ था, आप उसे छीन सकते हैं, इन सब प्रतिष्ठा चिन्हों को आप वापस ले सकते हैं किन्तु मेरी भुजाएं तो मेरे पास ही रहेगीं। इनमें जो बल है वह तो कहीं नहीं जा सकता। निर्णय केवल इतना ही है कि इनमें जो खून बह रहा है वह पिता का है या माता का? यह निर्णय मैं आप ही लोगों पर छोड़ता हूं।"

पुरोहित ने कहा—"माता की अपेक्षा पिता का विशेष अधिकार है।"

"बस! इतना ही पर्याप्त है।" यह कह कर विदुदर्भ ने अपनी भुजाओं को फटकारा। "मैं राजतंत्र का उपासक हूं। इन शाक्यों ने धोखा देकर मुझे अपमानित किया और उपहास का पात्र बनाया। मैं उनके गणतंत्र को निर्मूल कर दूंगा। पृथ्वी पर से इनके बीज मिटा दूंगा। इस शूद्रा ने अपना बलिदान करके जिन शाक्य माताओं, बहुओं तथा पुत्रियों का सतीत्व बचाया है, मैं उन्हें भ्रष्ट करूंगा। मेरे बैठने के कारण भोजन पीठ को भी अस्पृश्य मानने वाले उस बूढ़े महानामन को मैं बता दूंगा कि विदुदर्भ का अपमान किसे कहते हैं? आप मुझे सेनापति पद दें या न दें, मैं तो अपने मन की करूंगा ही।"

धर्माध्यक्ष के निर्णयानुसार उसे फिर सेनापति पद दे दिया गया। उसने उसी समय पिता का सिर काट लिया और माता के भी प्राण ले लिए। विशालवाहिनी लेकर विदुदर्भ ने शाक्यों पर चढ़ाई कर दी।

शाक्यों के पास न तो इतने सैनिक थे और न इतना बड़ा शस्त्रसंग्रह जिससे वे खुल्लम-खुल्ला लड़ते। उन्होंने नगर के द्वार बन्द कर लिए और किलेबन्दी करके बैठ गए।

विदुदर्भ को मालूम था कि शाक्यों की किलेबन्दी और नगरी के द्वारों को तोड़ना अत्यन्त कठिन है। उसने दूत द्वारा कहला भेजा।

"कौन कहता है मैं लड़ने के लिए आया हूं। शाक्यों का भागिनेय होकर क्या मैं उन पर ऐसी क्रूरता भरी दृष्टि डाल सकता हूं? मैं तो आज वैशाख पूर्णिमा के पवित्र दिन भगवान बुद्ध के स्थान का दर्शन करने आया हूं।"

"तो दरवाजे खोल दो।"

शाक्यों में यह रिवाज था कि भगवान बुद्ध का नाम लेकर कोई भी उनका अतिथि बन सकता था। उसके लिए सभी द्वार खुले थे। उसके प्रति किसी को अविश्वास न होता था। उनका यह दृढ़ निश्चय था कि भगवान बुद्ध का नाम लेने वाला धोखा नहीं दे सकता। उसमें कपट नहीं रह सकता।

द्वार खोल दिए गए। विदुदर्भ की क्रूर सेना जंगली पशुओं के समान टूट पड़ी। सारी नगरी में नृशंस हत्या का ताण्डव होने लगा।

विदुदर्भ ने आज्ञा दी—"आज वैशाली का कोई प्राणी जीवित नहीं रहना चाहिए। तुम्हारे सामने कोई आए, वह शस्त्रधारी हो या निःशस्त्र, स्त्री हो या छोटा बालक, वृद्धा हो या अशक्त। तुम्हें किसी पर दया दिखाने की आवश्यकता नहीं है। जैसे किसान फसल काटता है, इसी प्रकार शाक्यों को काट डालो। अपनी भुजाओं के बल और खड्ग की तीक्ष्ण धारा से वैशाली को शवपुरी बना दो।"

विदुदर्भ की आज्ञा ने सैनिकों को और उच्छृंखल बना दिया। नगर की असहाय, निःशस्त्र तथा निर्दोष जनता को काटता हुआ विदुदर्भ आगे बढ़ा। बालाओं का क्रंदन, बालकों की करुण चीत्कार, वृद्धों की सिसकियां, कठोर गर्भा माताओं के निराशा भरे लोचन उसे विचलित न कर सके। मार्गों में खून की नालियां बहने लगीं।

अपनी राक्षसी लीला पर अट्टहास करता हुआ वह आगे बढ़ा चला आ रहा था। नगर द्वार पर खड़ा होकर भागने वालों को मौत के घाट उतारने लगा। उसने सामने से एक वृद्ध को आते हुए देखा। हाथ की लकड़ी डगमगा रही थी। शवों के ढेर में से बच-बच कर चला आ रहा था। आंखों पर सफेद पपड़ियां थीं, उन्हें सफेद भोंह ने ढक रखा था। दुबली पतली गर्दन पर सफेद बाल लटक रहे थे। ऐसा मालूम पड़ता था जैसे यह दृश्य देखने के लिए मृत्यु ने उसे वापिस भेज दिया हो।

"हां, हां, आइए नानाजी!घर को धोकर लीप लिया न?" विदुदर्भ ने ताना मारा। आज मैं उस शुद्धि को पूरी कर देता हूं। दासी पुत्र के सांस से अपवित्र बने हुए शाक्यों की मैं रक्त शुद्धि कर रहा हूं। अब बाहर और भीतर से पवित्र हो जाएंगे।"

"भाई! आखिर तुम मेरे दोहित्र हो। मुझे क्षमा करो। मेरे बुढ़ापे की लाज रखो।" महानामन ने हाथ जोड़ते हुए कहा—"मेरे अकेले के पाप का दण्ड तुम सभी शाक्यों को दे रहे हो। मेरे पाप के लिए मुझे दण्ड दो।" "बूढ़े!" विदुदर्भ ने जरा कम्पित स्वर में कहा।

"तू भाग जा। अपनी सन्तान को लेकर निकल जा। तुझे-तुझे अभयदान है। तू मेरा नाना है। मुझे तुझ पर दया आ रही है।"

"मुझ अकेले को नहीं दोहित्र।" बूढ़े के कांपते हुए हाथ पूरे जुड़ भी न सके—"शाक्यों को बचाओ। इन बालकों, स्त्रियों, सगर्भाओं, प्रसूताओं और माताओं पर दया करो।"

"दया! दया किसे कहते हैं?" विदुदर्भ नरसंहार का आनन्द ले रहा था—"बूढ़े! शत्रु पर दया करना मूर्खता है। मगध की गद्दी पर बैठने वाले अपने बाप पर भी दया करना नहीं जानते।"

"अच्छा भाई! मैं एक मांग करता हूं। मैं अपने पाप का छोटा-सा प्रायश्चित करना चाहता हूं। क्या इतनी-सी बात मंजूर करोगे?"

"बोलो! जल्दी बोलो! क्या चाहते हो?"

"इस पानी में —महानामन ने पास ही के झरने की ओर इशारा करते हुए कहा— मैं एक डुबकी लगा लूं तब तक तुम इस नरसंहार को रोक दो। तब तक जो भागना चाहें उन्हें निकल जाने दो। यह एक छोटा-सा प्रायश्चित है। आशा है अपने बूढ़े नाना की इतनी-सी

बात के लिए इन्कार न करोगे ! इससे मेरे पाप का एक छोटा प्रायश्चित हो जाएगा।"

"अच्छी बात है। हम भी तब तक सांस ले लेते हैं। जल्दी से डुबकी लगा लो।"

यह कह कर विदुदर्भ ने संहार रोकने के लिए पताका फहराई।

बूढ़े ने झरने में डुबकी लगाई। पानी बहुत गहरा न था। नगर के लोग अपने प्राण लेकर भागने लगे। संहार से रुकी हुई सेना खड़ी उन्हें देख रही थी। अब भी उसके हाथ में नग्न खड्ग चमक रहे थे और दूसरी आज्ञा की प्रतीक्षा कर रहे थे।

समय बीतने लगा। विदुदर्भ बेचैन हो रहा था। कब बूढ़ा निकले और कब वह फिर संहार की आज्ञा दे। वह अपने अनुचरों को कह रहा था—"बूढ़े ने प्राणायाम का अभ्यास कर रखा है। अधिक नहीं तो हजार पांच सौ के प्राण तो बच ही जाएंगे। बूढ़ा कुछ न कुछ पुण्य तो कमा ही लेगा।"

सामने सारे नगर में फैली हुई सेना थी। प्रत्येक सैनिक के हाथ में नग्न खड्ग था। अब भी उससे खून टपक रहा था। किन्तु कुछ देर में सारी सेना स्तम्भित-सी खड़ी थी।

विदुदर्भ ने झरने पर खड़े होकर देखा। किनारे पर बूढ़े महानामन की लकड़ी और उत्तरीय पड़े थे। पानी की सतह पर अब भी बुलबुले उठ रहे थे।

"बूढ़े ने बड़ी देर लगा दी। इस प्रकार तो बहुत से शाक्य निकल जाएंगे।" उसने अधीरता के साथ कहा। जैसे कोई अलभ्य अवसर हाथ से निकल रहा हो।

सैनिकों के हाथों में हजारों खड्ग मौत की जिह्वाओं के समान लपलपा रहे थे। प्रत्येक द्वार से झुण्ड के झुण्ड नागरिक निकल रहे थे। विदुदर्भ देख-देखकर बेचैन हो रहा था।

"यह क्या !" विदुदर्भ ने फिर पानी पर नजर डाली। अब बुलबुले शान्त हो गए थे।

"इस धूर्त शाक्य ने क्या किया ? बूढ़ा कहीं निकल गया ?"

"महाराज !" पास ही खड़े हुए एक अनुचर ने जवाब दिया, "हो सकता है, अन्दर ही अन्दर किसी गुप्त मार्ग से निकल गया हो। शाक्यों के हृदय और गुप्त मार्गों का पता लगाना बड़ा कठिन है।"

"तो अन्दर उतरो ! गुप्त मार्गों को ढूंढ निकालो।" विदुदर्भ ने आज्ञा दी।

आदमी अन्दर घुस गए। झरने में ढूंढना प्रारम्भ किया। थोड़ी देर बाद नीचे के तल से कुछ निकाल कर बाहर लाए। वह एक वृक्ष की जड़ थी। उसी के साथ चिपका हुआ महानामन का निष्प्राण शरीर था। आश्चर्यमूढ़ विदुदर्भ ने जब अपनी दृष्टि उस मृतदेह से हटाकर नगरी की ओर डाली तो वह सारी निर्जन दिखाई दी।

हजारों खड्गों को निकाले हुए सेना डुबकी पूरी होने की प्रतीक्षा कर रही थी। किन्तु...

नाटक की परीक्षा

पण्डित विशाखदत्त राजगृही के प्रसिद्ध विद्वान थे। संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं के प्रखर पण्डित, साहित्य और दर्शन दोनों में गहरे उतरे हुए, सफल अध्यापक और सरल कवि। वाणी और लेखनी पर पूरा अधिकार था। प्रत्येक शब्द से पाण्डित्य और प्रतिभा का परिचय मिलता था। किन्तु सरस्वती जितनी प्रसन्न थी, लक्ष्मी उतनी ही अप्रसन्न। घर पर पढ़ने के लिए विद्यार्थी आते थे किन्तु उनमें सूखी भक्ति के सिवाय अधिक सेवा करने की सामर्थ्य न थी। मठाधीश अपनी गद्दी की नाक रखने के लिए कभी-कभी शास्त्रार्थ हेतु चुन लेते और बड़े सम्मान के साथ बुलाते। पण्डितजी उस समय अपने दारिद्र्य को भूल जाते और आत्माभिमान के साथ जम कर बैठते। समस्त श्रोताओं की दृष्टि उनकी ओर घूम जाती। जब प्रत्येक वाक्य के साथ साधुवाद मिलता तो उन्हें घर का कोई भान न रहता। किन्तु शास्त्रार्थ समाप्त होने पर दक्षिणा लेकर जब घर लौटते तो पण्डितानी की लिस्ट देखकर चौंक उठते। उन्हें पता चलता कि दक्षिणा से तो दो सप्ताह भी निर्वाह न होगा। अभाव अपना मुंह बाए खड़ा दिखाई देता। दूसरी ओर से कानों में पड़ता कि वह जिस महन्त के प्रतिनिधि बने थे, चारों ओर उसकी विजय के ढोल पीटे जा रहे हैं और उसके चरणों में बड़ी-बड़ी दक्षिणाएं चढ़ रही हैं। पण्डितजी की समझ में न आता कि यह किस पाप का फल है जिससे वह अपने परिश्रम और प्रतिभा का फल स्वयं नहीं भोग सकते। उनकी विद्वता का मूल्य महन्त को क्यों मिल रहा है ? स्वयं, पण्डितानी और तीन बच्चों की उदरपूर्ति करना पण्डितजी के लिए बहुत बड़ी समस्या थी। वह त्याग और मोक्ष का उपदेश घण्टों दे सकते थे, दर्शनशास्त्र की उलझी हुई गुत्थियों को सुलझा सकते थे, कुबेर के खजाने की सूची तैयार कर सकते थे किन्तु पांच प्राणियों के पेट की गुत्थी को सुलझाना पहुंच के बाहर था।

घर में एक छोटी कोठरी थी। उसके द्वार पर घास का छप्पर था। छोटे से अहाते के चारों ओर कांटों की बाड़ थी। पण्डितजी अपनी कुटिया से सन्तुष्ट थे, उन्हें महलों की चाह न थी, किन्तु जब बच्चों का कोलाहल और उन्हें पीटती हुई पण्डितानी का कर्कश स्वर कानों में पड़ता तो विद्या की उपासना और विश्राम दोनों असम्भव हो जाते। उस समय मन में खीझ उठती, कभी तो वह पण्डितानी पर उतरती, कभी बच्चों पर और कभी अपने घर पर।

तत्वचिन्तन और कविता के लिए पण्डितजी के पास एक ही समय था। रात को जब बच्चे सो जाते तो वह कोठरी के एक कोने में दिया जलाकर बैठ जाते। बड़ी रात तक अध्ययन तथा लेखन में लगे रहते। दिन भर के अशान्त वातावरण से क्षुब्ध मस्तिष्क और उत्तप्त हृदय को उस समय शान्ति मिलती। अभाव से आक्रान्त वस्तुस्थिति को छोड़कर वह कल्पना के मधुर जगत में विचरण करने लगते, जहां उन्हें सब कुछ परिपूर्ण और अपने मन के अनुकूल मिलता। वह भूल जाते कि फटी हुई साड़ी लपेटे, दिन भर के कामों और कोलाहल से परेशान, थक कर लेटी हुई उस ब्राह्मणी के साथ भी उनका कोई सम्बन्ध है, जो उम्र के लिहाज से युवती होने

पर भी बुढ़ापे को निमन्त्रित कर चुकी है। उनकी कल्पित नायिका तो नख से लेकर शिखा तक अनिन्द्य सुन्दरी, सतत तरुणी और कौशेय से आवृत होती थी। उन्हें इस बात का भी ध्यान न रहता कि टूटी हुई चारपाई पर सोए हुए छोटी-छोटी बातों के लिए तरसने वाले वे भोले शिशु मेरी ही सन्तान हैं और इनके भरण-पोषण तथा सुख-सुविधा का उत्तरदायित्व मुझ पर है।

जीवन के रेगिस्तान में कल्पना वह मरीचिका है जो प्यासे हरिण को दौड़ते रहने के लिए प्रेरित करती है। लोग कहते है, मरीचिका धोखा है। किन्तु क्या उसमें प्रगति के लिए प्रेरणा विद्यमान नहीं है? दौड़ते रहने का नाम जीवन है, उसमें फल प्राप्ति का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता। सत्य और मिथ्या का आधार फल-प्राप्ति नहीं है। उनका आधार है, जीवन के लिए प्रेरणा। जिसमें जितनी अधिक प्रेरणा है वह उतना हो सत्य है। निठल्ले बैठ जाने का अर्थ है मृत्यु को समय से पहले स्वीकार कर लेना। दौड़ते-दौड़ते प्राण देने का अर्थ है जीवन के प्रत्येक सांस को उपयोग में ले आना। इसी का नाम सफलता है। पण्डितजी उस कल्पना जगत में तब तक विचरते रहते जब तक निद्रा पूरी तरह अभिभूत न कर लेती।

प्रातः होने पर पण्डितजी जिस बात से बहुत अधिक बचना चाहते थे वह थी पण्डितानी का साक्षात्कार। उन्हें भय होता था, कहीं आटे-दाल का प्रश्न न खड़ा हो जाए। किन्तु भयभीत होने से मुक्ति नहीं मिला करती। वस्तु-स्थिति का सामना करना ही पड़ता है। जब पण्डितानी उदास होकर कहती कि आज आटा खत्म हो गया है, दाल भी एक दिन से अधिक नहीं चलेगी तो वह मन-ही-मन कुढ़कर रह जाते। शास्त्रों में अप्रतिहत बढ़ने वाली उनकी वाग्धारा यहां सूख जाती। प्रतिभा कुण्ठित हो जाती। तेज मन्द पड़ जाता। यह पराजय बहुत ही अखरती किन्तु कोई मार्ग न सूझता।

एक दिन पण्डितानी ने कहा—"अपने नगर के राजकुमार अभयसिंह बड़े दानी हैं। पण्डितों और कवियों का आदर करते हैं। आप उनके पास जाइए।"

विशाखदत्त को पाण्डित्य का गर्व था। किसी के सामने हाथ पसारना आत्म-सम्मान के विपरीत मालूम पड़ता था। किन्तु लाचारी थी। पण्डितानी के आग्रह से वह राजकुमार के पास पहुंचे और भोजपत्र पर लिखा हुआ एक श्लोक अर्पित किया। उसमें लिखा था—

"उमंग से बीज बोया, पेड़ उग आया किन्तु जीवन भर एक भी फल नहीं लगा। जिसे दारिद्रय रूपी लू झुलसा डालती हो, उसके लिए बेचारा किसान क्या करे?"

श्लोक पढ़कर राजकुमार पण्डित का दुख समझ गया। उसने पूछा--"पण्डितजी आपकी क्या सेवा की जाए?"

विशाखदत्त ने कहा—"विद्या प्राप्त करने में मैंने बहुत परिश्रम किया है। अपने पाण्डित्य का मुझे अभिमान है। इसके लिए सर्वत्र आदर होता है। किन्तु पास में न तो घर है जिसमें शान्तिपूर्वक रह सकूं और न पांच प्राणियों का पेट भरने का साधन। आप यह स्वयं जान सकते हैं कि मेरी दरिद्रता का निवारण कैसे हो सकता है।"

"अच्छा पण्डितजी! कोई नई रचना लाइए। यदि मुझे पसन्द आ गई तो एक लाख स्वर्ण मुद्राएं पारितोषिक मिलेगा।"

"जय हो राजकुमार की।" पण्डितजी ने पुलकित होते हुए कहा—"मैं अवश्य नई रचना लाऊंगा। आपको उससे प्रसन्नता होगी।"

यह कहकर प्रसन्न होते हुए वह अपने घर चले गए।

दूसरे दिन पण्डित विशाखदत्त ने एक नाटक लिखना प्रारम्भ किया। किन्तु जहां कल्पना



के तन्तु निकलें और टूट जाएं, ऐसी स्थिति में सारा वस्त्र कैसे बुना जा सकता है? न तो घर में शान्ति थी और न आजीविका के लिए निश्चिन्तता। न रात को नींद का ठिकाना था, न दिन को विश्राम। पण्डितजी बड़े संकट में पड़ गए। प्रत्येक समय बेचैन रहने लगे। कभी-कभी इतने उद्विग्न हो उठते कि गृहिणी के साथ लड़ पड़ते। वह कहते—"वास्तव में मुझे दरिद्र बनाने वाली तुम्हीं हो। तुम्हारे कारण मेरी शक्ति रुकी हुई है, प्रतिभा कुण्ठित हो रही है। मैं घर से बाहर जब पण्डितों में जाकर बैठता हूं तो परम शान्ति का अनुभव करता हूं। जब घर में आता हूं तो एक क्षण भी शान्ति नहीं मिलती। दरिद्रता दूर करने के लिए राजकुमार ने जो उपाय बताया है उसे भी नहीं कर पाता।"

इस प्रकार व्याकुल होते हुए वह अपने पोथी-पाने लेकर नगर के बाहर निकल जाते और किसी शान्त उपवन में बैठ कर नाटक लिखते। दरिद्रता दूर करने का अनुष्ठान करते।

उन्हें संसार के द्वन्द्वों का एक साथ अनुभव हो रहा था। एक ओर घर का कोलाहल और अशान्ति थी, दूसरी ओर वन का एकांत और स्तब्धता। एक ओर दरिद्रता का कांटा चुभ रहा था, दूसरी ओर साहित्य रचना का सात्विक आनन्द। एक ओर पेट की क्षुधा थी दूसरी ओर चित्त की तृप्ति। इस प्रकार द्वन्द्वों का अनुभव करते हुए उन्होंने रचना पूर्ण की। उसे लेकर कुमार के पास पहुंचे।

कुमार ने आदर से बुलाया, बैठने के लिए आसन दिया। पूछा—"कहिए पण्डितजी ! आपकी रचना कैसी है ? गद्य, पद्य या चम्पू ?"

"मैंने एक नाटक लिखा।" पण्डितजी ने उत्तर दिया।

"नाटक रचा है। बड़ी अच्छी बात है।" कुमार ने आनन्द प्रकट करते हुए कहा—"किन्तु पण्डितजी !" कुमार ने फिर कहना प्रारम्भ किया—"नाटक का आनन्द तो केवल सुन कर नहीं लिया जा सकता। उसका नाट्यगृह में प्रयोग होना चाहिए। तभी देख कर उसका मूल्यांकन हो सकेगा।"

"जैसी आपकी इच्छा।" विशाखदत्त ने उत्तर दिया—"आप प्रयोग की व्यवस्था कर दीजिए। उसे देख लेने पर यदि आप को सन्तोष हो तभी पारितोषिक दीजिएगा।" पण्डितजी को अपनी रचना पर पूरा भरोसा था।

नाटक की पाण्डुलिपि राजकुमार के पास छोड़ कर वह घर की ओर रवाना हुए। चित्त में यह आनन्द था कि उनकी कृति पर अभिनय होगा और बड़े-बड़े विद्वान देखेंगे। विद्वान को तब विशेष आनन्द होता है जब उसकी रचना अधिकारी द्वारा जांची जाती है।

घर पहुंचा तो पण्डितानी आशा लगाए बैठी थी। विशाखदत्त को खाली हाथ देख कर उसने एक दीर्घ निश्वास छोड़ा। पण्डितजी का सारा आनन्द हवा हो गया। पण्डितानी का निश्वास तीर के समान कलेजे में चुभ गया। ऐसा मालूम पड़ा, जैसे वह बहुत थक गए हों। सीधे कोठरी में जाकर पड़ गए। सारे शरीर से पसीना बहने लगा।

राजकुमार ने राजमहल के साथ लगे हुए राजकीय नाट्यगृह में अभिनय की व्यवस्था की। नाट्याचार्य शारंगपाणि को सूत्रधार बनाया। दूसरे पात्रों के लिए नगर की रंगशालाओं से नर्तकियों तथा वारांगनाओं में से तथा राज-सेवकों में से चुनाव करने की आज्ञा दी।

अभिनय की सारी तैयारियां हो गईं। निश्चित दिन प्रयोग प्रारम्भ हुआ। राजकुटुम्ब, नगर के सेठ, राज कर्मचारी, पण्डित, आचार्य, कवि, कलाकार तथा दूसरे नागरिकों से प्रेक्षागृह भर गया। पण्डित विशाखदत्त राजकुमार के पास ही बैठे थे।

नाटक का नाम था 'निर्वेद'। नमिराजा का चरित्र कथावस्तु था। तीन अंक थे। पहले अंक में नमिराजा का हाथी हस्तिशाला से निकल भागता है और चन्द्रयश राजा की सीमा में पहुंच जाता है। चन्द्रयश उसे पकड़कर अपनी हस्तिशाला में बन्द कर देता है। परिणाम स्वरूप दोनों में युद्ध होता है। इस प्रकार पहले अंक में वीर रस प्रधान था।

दूसरे अंक में चन्द्रयश की मां साध्वी मदनरेखा युद्ध को रोकना चाहती है। वह दोनों को समझाती है। अन्त में नमिराजा को यह पता चलता है कि मदनरेखा दोनों की मां है। वह अपने बड़े भाई चन्द्रयश से प्रेमपूर्वक मिलता है। इस में शान्त और करुण रस का सम्मिश्रण था।

इसके वाद तीसरा अंक प्रारम्भ होता है। नमिराजा का शरीर दाह ज्वर से पीड़ित होता है। राज व्याकुल होकर शय्या में करवटें बदलता है किन्तु चैन नहीं पड़ता। वह पुकार रहा है—"मुझे ठण्डे पानी में डुबा दो। मेरे लिए हिमालय का शिखर तोड़ लाओ। कितनी जलन

हो रही है ? वैद्यों को बुलाओ। यदि वे मेरे दाह को शान्त न कर सकें तो उनके नाक-कान काटकर नगर से बाहर निकाल दो।"

इतने में राजवैद्य आता है और राजा के सारे शरीर पर चन्दन पोतने के लिए कहता है। तुरन्त सैकड़ों दासियां और रानियां चन्दन घिसने लगती हैं। भरे हुए कटोरे आने लगते हैं और लेप प्रारम्भ हो जाता है।

"किन्तु इतनी खनखनाहट क्यों हो रही है ? यह कोलाहल तो मेरे कानों को फाड़े डालता है।" राजा ने घबराकर कहा।

रानियों के हाथों में चूड़ियां थीं। चन्दन घिसते समय उन्हीं का शोर हो रहा था। राजा यदि स्वस्थ होता तो सम्भवतया उसी आवाज को सुनकर प्रसन्न हो उठता। उस का मन नाचने लगता। किन्तु इस समय वही मधुर झंकार कर्णज्वर उत्पन्न कर रही थी। सुन कर सिर फटा जा रहा था। चन्दन के लेप से कुछ शान्ति मिलती थी किन्तु चूड़ियों की आवाज नई अशान्ति उत्पन्न कर रही थी। राजा ने व्याकुल होकर कहा—"यह कोलाहल मेरे कानों में भयंकर पीड़ा उत्पन्न कर रहा है। या तो इसे बन्द कर दो या मेरे कानों में ऐसी कोई चीज डाल दो जिससे यह सुनाई न पड़े।"

रानियों ने सौभाग्य के चिन्ह स्वरूप एक-एक चूड़ी हाथ में रहने दी और बाकी की चूड़ियों को उतार दिया। आवाज शान्त हो गई। राजा को कुछ चैन पड़ा। उसने पास ही खड़े हुए सेवक से पूछा—"क्या चन्दन घिसने का काम समाप्त हो गया ?"

सेवक ने उत्तर दिया—"नहीं महाराज ! चन्दन तो अब भी घिसा जा रहा है।"

"तो आवाज कैसे बन्द हो गई ?"

सेवक ने बताया—"रानियों ने एक-एक चूड़ी हाथ में रखकर बाकी उतार दी हैं। आवाज चूड़ियों की परस्पर रगड़ से होती थी। अब बन्द हो गई।"

"ओह! मैं अब समझा।" राजा ने इस तरह कहा जैसे कोई भूली हुई वस्तु मिल गई हो। "जहां दो होते हैं वहीं संघर्ष, अशान्ति तथा द्वन्द्व खड़े होते हैं। जहां व्यक्ति अकेला हो वहां कोई अशान्ति नहीं होती।"

चन्दन के लेप से राजा के शरीर में काफी शान्ति हो गई थी। जीवन-रहस्य की इस अनुभूति ने उसे नया बल प्रदान कर दिया। वह शय्या से उठ बैठा और अपने आप से कहने लगा—

"हे मानव ! तू शरीर और आत्मा रूपी दो तत्वों से रचा गया है। जहां दो हैं, वहां सदा भय है। वहां संघर्ष और अशान्ति रहते ही हैं। इसी संघर्ष के कारण प्राणी संसार में भटकते हैं। यदि तू चिर शान्ति प्राप्त करना चाहता है तो अकेला हो जा।"

राजा अशान्ति के कारण को समझ लेता है और गार्हस्थ्य का त्याग करके मुनिव्रत अंगीकार करने के लिए तैयार होता है। कंठ, बाहु, कटि, अंगुली आदि अंगों पर चमकते हुए अलंकारों को उतारने लगता है। मन्त्री, रानियां, पार्श्वचर तथा अन्य सेवक आश्चर्य में पड़ जाते हैं। नगर में बात फैलती है और हाहाकार मच जाता है। नमिराजा सर्वप्रिय था, इसलिए प्रजा अत्यन्त दुखी हो रही है।

उसी समय एक ब्राह्मण आता है और राजा से प्रार्थना करता है—"राजन ! आपके संसार त्याग की बात सुनकर सारी मिथिला में हाहाकार मच गया है । आप जरा देखिए तो सही, ऐसा प्रतीत होता है जैसे आपके महल और अन्तःपुर जल उठे हों ।"

नमि ने उत्तर दिया—"न तो महल मेरे हैं और न अन्तःपुर मेरा है । मिथिला के जलने से मुझे क्या ? मैं तो अकेला रहने ही में सुख मानता हूं । अन्तःपुर तथा प्रजाजन के दुख का कारण आसक्ति है, मोह है । इसका अन्त होना ही उचित है । जिस व्यक्ति ने स्त्री-पुत्र आदि परिवार छोड़ दिया उसे न कोई प्रिय है, न कोई अप्रिय है । वह तो भिक्षु हो जाता है । संसार के द्वन्द्वों से अलग होकर अकेले विचरण करता है ।"

सभी को छोड़कर नमिराजा वन की ओर चल पड़ता है । यहीं नाटक पूरा हो जाता है ।

सारे प्रेक्षागृह में करुणा और वैराग्य छा गया । कुछ देर तो ऐसा वातावरण बना रहा जैसे वह नाटक न होकर सच्ची घटना हो । सभी दर्शक स्तब्ध बैठे रहे ।

विशाखदत्त का अभिनन्दन करने की इच्छा से राजकुमार ने दृष्टि घुमाई । विशाखदत्त हाथ जोड़कर खड़ा था । कुमार की दृष्टि पड़ते ही उसने कहा—"कुमार । अब मैं जाने की अनुमति चाहता हूं ।

"ठहरिए । अपने पारितोषिक की लाख मुद्राएं तो लेते जाइए ।" कुमार ने प्रसन्न होते हुए कहा ।

"बस अब मुझे मुद्राएं नहीं चाहिए । मैं तो अब जाने के लिए तैयार बैठा हूं ।" विशाखदत्त ने विरक्ति के साथ कहा ।

"कहां जाएंगे पण्डितजी ?" राजकुमार ने चकित होकर पूछा ।

"जहां नमिराजा गया है ।"

"यह आप क्या कह रहे हैं ?"

"कुमार मैं अशान्ति से तंग आ चुका हूं । शान्ति खोज रहा था । मेरे सरीखे व्यक्ति के लिए यही सच्चा मार्ग है । और कहीं शान्ति नहीं है । एकत्व में ही शान्ति है । इसी का नाम मोक्ष है ।"

कुमार सुनकर स्तब्ध रह गया । उसने कहा "पण्डितजी यह तो नाटक था । आपका ही रचा हुआ ! नमिराजा यहां कहां था वह तो नाट्याचार्य शारंगपाणि अभिनय कर रहे थे ।"

"कुमार ! मैं यह सब जानता हूं । इस नाटक को लिखते समय मेरे मन में कई बार विरक्ति आई किन्तु वह परिपाक तक नहीं पहुंच सकी । इस अभिनय को देख कर उसका परिपाक हो गया है । मुझे जाने के लिए मार्ग दीजिए ।"

प्रेक्षकों ने मार्ग छोड़ दिया । उनकी आंखें आंसुओं से भरी हुई थीं । विशाखदत्त नाट्यगृह से निकलकर सीधे वन की ओर चले गए ।

प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मंत्रालय
भारत सरकार

